जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 8 • अगस्त, 2000

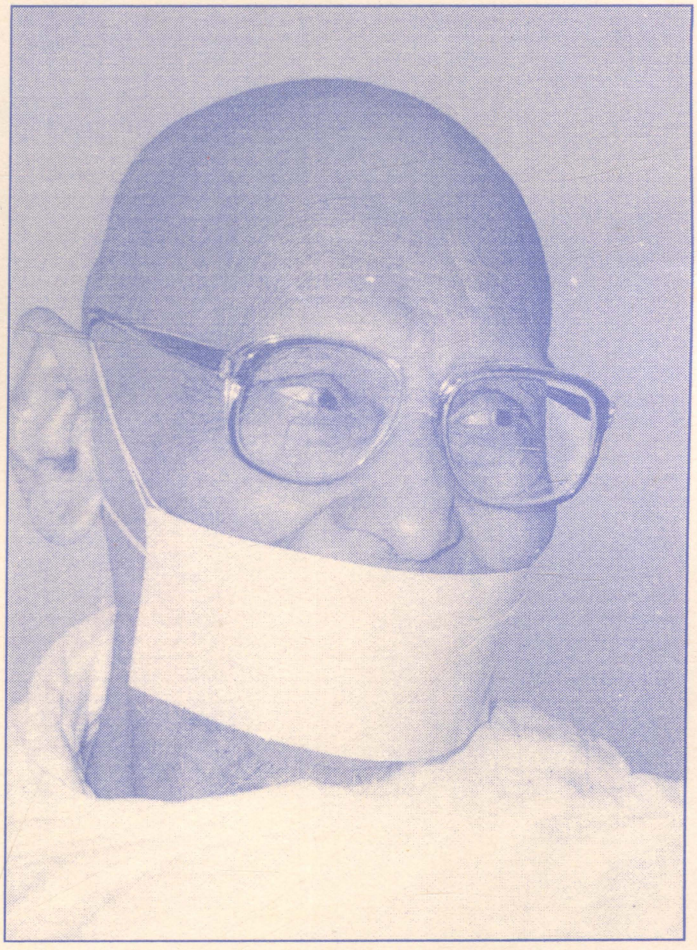

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अगस्त, 2000 वर्ष 48 अंक 8 रु. 15.00

विमर्श

9
प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद
वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह

17
रमेशचंद्र शाह
भारतीयता : इक्कीसवीं सदी की देहरी पर

22
समणी मंगलप्रज्ञा
मंत्र-विचारणा

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अनुशासन के मंत्रदाता जयाचार्य

31
आचार्यश्री तुलसी
जीवनशैली में कौशल

34
कहानी
लेव तोलस्तोय
अल्योशा

38
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
वयं रक्षामः

शीलन

41
मो. क. गांधी
किसे कहें नीति

45
समणी सत्यप्रज्ञा
अतीतं व्यतीतं

47
डॉ. मदन सैनी
बंधनमुक्ति-पर्व

50
साध्वी श्रुतयशा
स्वातंत्र्य चेतना : जैन चिंतन

52
बाल कथा
श्रीकृष्ण
सांप और नेवला

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'जब प्रतीक अपना स्वभाव छोड़ देता है और एक धर्म-मतवाद बन जाता है तो उससे अनिष्ठा का, अविश्वास का जन्म होता है। ईसा ने कहा था : 'अधिवक्ताओ! वकीलो! तुम्हारा नाश हो क्योंकि तुमने ज्ञान की कुंजी दूर हटा दी है। तुम खुद अपने अंदर प्रवेश नहीं करते और जो प्रवेश कर रहे थे उनको तुमने बाधा ही पहुंचाई है।' जब बुद्ध ने वेद का खंडन किया तो महान सत्य विकृत होकर जिस अनुत्पादक कर्मकांड के रूप में रह गए थे उनकी उन्होंने आलोचना की। जब संत पाल ने यहूदी विधि-विधान को अमान्य किया तो उस भौतिक आचारवाद को अमान्य किया था जो आध्यात्मिक जीवन से रहित हो गया था। निरतिशय या पूर्ण सत्य अपनी संपूर्ण संभव अभिव्यक्तियों से परे है। अभिव्यक्तियां सीमित हैं, जैसा कि उनकी विशेषताएं एवं विविधताएं प्रकट करती हैं। सत्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति केवल आपेक्षिक है; वह अन्य सब मूल्यों को हटाकर एकमात्र मूल्य नहीं बन सकती। वह जिसे व्यक्त करती है उसकी एकमात्र अभिव्यक्ति वही है, यह दावा नहीं कर सकती। कोई विशिष्ट रूप स्वभावतः सीमित होता है और कुछ न कुछ अपनी सीमा के बाहर छोड़ देता है। जिन्होंने एक विशिष्ट प्रणाली को ग्रहण कर लिया है और जो निराकार, अरूप सत्य तक नहीं पहुंच पाए हैं वे प्रायः अपने सापेक्ष सत्य को ही पूर्ण सत्य समझ बैठते हैं और शाश्वत सत्यों को ऐतिहासिक तथ्यों से मिलाकर भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। विभिन्न धर्म विविध भाषाओं के समान हैं जिनमें ईश्वर ने मनुष्य से बात की है।'

—डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

जो चलता है वह स्खलित भी हो जाता है। स्खलित होना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है—चलना। व्यवस्था इसलिए होती है कि व्यक्ति चले और स्खलित न हो। अकेला व्यक्ति चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है। समुदाय में कोई चलता है या स्खलित होता है, उसका उत्तरदायित्व समुदाय पर होता है। साधना के क्षेत्र में व्यक्ति समुदाय में रहते हुए भी अकेला होता है इसलिए उसका दायित्व भी स्वयं पर अधिक होता है, किंतु समुदाय में रहने वाला अकेला ही नहीं होता इसलिए उसका दायित्व समुदाय पर भी होता है। समुदाय में कोई दोष-सेवन करे, उसे कोई दूसरा देखे—उस समय देखने वाले का क्या कर्तव्य है, यह विमर्श-योग्य विषय है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

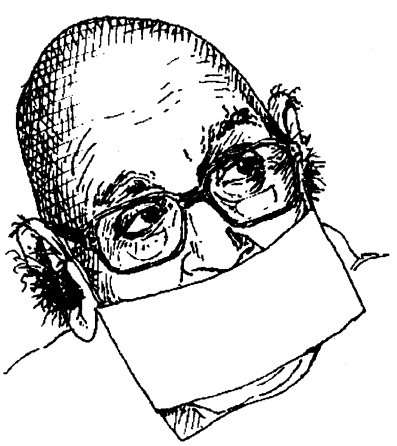

विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए चेतना जागी और लाखों व्यक्ति—'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'— के नारों पर मर मिटे। अगर बुराई के विरुद्ध भी वैसी चेतना जाग जाती तो लोग कठिनाइयों से मुंह नहीं मोड़ते। नीतिनिष्ठ व्यक्तियों का द्वार भी अनीति के लिए खुला है और इसीलिए खुला है कि बिना मतलब कठिनाई कौन झेले! 'यद्यपि कार्य बुरे हैं पर सभी कर रहे हैं, फिर कोई एक नहीं करेगा तो उससे क्या बनने-बिगड़ने का है? आखिर तो सब भले होंगे तभी नीति टिकेगी'; इस प्रकार श्रद्धा गिरती है, व्यक्ति गिर जाता है, सुख-सुविधा और विलास का ऐसा नशा छा जाता है कि फिर उठने की बात नजदीक नहीं रहती। सरसरी दृष्टि डालिए—केवल भारत में ही नहीं, लगभग दुनिया के पट पर यही चित्र चल रहा है। आखिर यह कब तक चलेगा? अशांति के अंतर्दाह से झुलसा मनुष्य शांति के लिए दौड़ रहा है और दौड़ता ही रहेगा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के बिना वह मिलने की नहीं और यह तत्त्व समझ में नहीं आ रहा है। ठीक वही दशा है—कस्तूरी की खोज में मृग समूचा जंगल छान लेता है पर उसे मिलती नहीं। सचमुच शांति चाहिए तो सबसे पहली अपेक्षा है—उसके अनुकूल श्रद्धा बने और चेतना जागृत हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतंत्र बना ले तो अशांति की सत्ता उखड़ जाए। सारी समस्याएं सुलझ जाएं।

—आचार्यश्री तुलसी

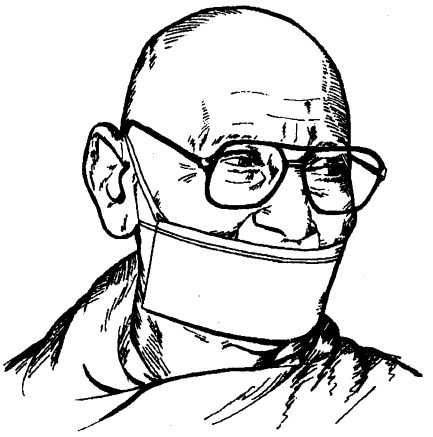

लगाम है श्रुतज्ञान

लगाम से चलने वाले और बेलगाम चलने वाले घोड़े में बहुत बड़ा अंतर होता है। बेलगाम का घोड़ा भटका देता है, लगाम का घोड़ा राजमार्ग पर चलता है, सवार की इच्छानुसार चलता है। गौतम ने कहा—मेरे हाथ में लगाम है इसलिए मेरा घोड़ा कभी उन्मार्ग में नहीं जाता, कभी नहीं भटकता। मैं उस पर सवार हूं, जैसे चाहता हूं वैसे चला रहा हूं, इसलिए मन की, उस घोड़े की चंचलता से मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। मन उपयोगी तत्त्व है। मन नहीं होता है तो जीव असंघी होता है, विकास की अंतिम भूमिका में नहीं रहता है। मन हमारी चेतना का विशिष्ट विकास है। चींटी, कीड़े-मकोड़े—इनमें मन का विकास नहीं होता, अतः ये असंघी कहलाते हैं। मनुष्य में मन का विकास होता है और अन्यान्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत विकास होता है। मन विकास की भूमिका का प्रतीक है। वह शत्रु नहीं है। एक कीमती घोड़ा है। इसकी लगाम है श्रुतज्ञान। आदमी में ज्ञान नहीं होता तो मन उसे सताने लग जाता है। जब आदमी में ज्ञान होता है तब मन उसके लिए साधक बन जाता है, उपयोगी बन जाता है। मन भटकता रहता है, एक विषय पर नहीं टिकता। मन को एक स्थान पर टिकाने का साधन है—श्रुतज्ञान। यह एक ऐसी लगाम है जिसके सहारे मन को जहां चाहें वहां टिका दें। चाहें तो उसे ज्योतिर्केंद्र पर टिका दें और चाहें तो उसे तैजस केंद्र पर टिका दें। यह शक्ति आती है अभ्यास के द्वारा। इसके लिए श्रुतज्ञान बहुत आवश्यक है, बड़ा आलंबन है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
अगस्त, 2000

प्रसंग

वयं रक्षामः

हम रक्षक हैं। किसके, क्या स्वयं के? लेकिन स्वयं की रक्षा क्या तब तक संभव है जब तक कि दूसरों की रक्षा न हो जाए? इस मानी में हम एक-दूसरे के रक्षक कहे जा सकते हैं। रक्षा-बंधन का पर्व 'वयं रक्षामः' का प्रतीक कहा जा सकता है। यह संयोग है कि इस बार स्वतंत्रता दिवस और रक्षा-बंधन एक ही रोज हैं। प्रसंगवश कहा जा सकता है कि हम स्वतंत्रता के रक्षक हैं। स्वतंत्रता तभी स्थापित रह सकती है जब हर कोई एक-दूसरे की स्वतंत्रता की रक्षा करे। श्रमण महावीर इसी तरह की स्वतंत्रता के पक्षधर रहे हैं। उन्होंने कहा, 'पुढो सत्ता'— हर व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है। वे एक कदम और आगे बढ़ते हैं और कहते हैं—'अहासुहं देवाणुप्पिया'—देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो। 'इच्छा कारेणं'—इच्छा हो तो यह काम करो। ऐसा नहीं कि यह काम तुम्हें करना ही पड़ेगा। कहा जाता है कि अपने अनुयायियों को, यहां तक कि साधु-संतों को भी महावीर बाध्य नहीं करते थे—कुछ करने के लिए।

यह आदर्श स्थिति थी। महावीर के काल में हर व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व और उसकी इच्छा-अनिच्छा का ऐसा सम्मान आदर्श स्थिति ही कहा जा सकता है।

इस आदर्श स्थिति के लिए महावीर ने अपने समय के समाज को जो सूत्र दिए, वे क्या थे? महावीर ने कहा—'अओ सव्वे अहिंसया'—किसी भी जीव की हिंसा न की जाए। मात्र यही नहीं, प्राणीमात्र के साथ आत्मानुभूति, तादात्म्य और एकात्मकता स्थापित की जाए। महावीर ने कहा—'सच्चंमि धिइं कुव्वहा', पुरुष! तू सत्य में धैर्य कर, सत्य को पा लिया तो सब कुछ पा लिया।

महावीर के इन सिद्धांतों की विवेचना करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि महावीर ने तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया। उन्होंने सत्य को संकुचित या

सीमित नहीं किया। संप्रदाय, जाति, वर्ग में सत्य को बांधा नहीं, उसे एकाकी दृष्टि से नहीं देखा। वे बताते हैं—हम वस्तुओं को विविध पहलुओं से देखें, परखें। महावीर का धर्म इसीलिए विश्वधर्म है—विश्वधर्म वह जो सबका उदय करे। कहा जा सकता है कि सबका उदय ही वयं रक्षामः का फलित है।

इस दृष्टि से महावीर के सिद्धांत और दर्शन आज सर्वाधिक प्रासंगिक हैं। क्योंकि आज स्थितियां बहुत कुछ महावीर के समय से उलट हैं। व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व आज संकट में है।

महावीर की तरह गांधी ने भी सत्य के प्रयोग किए और जो निष्कर्ष उसमें से निकले वे ही उनके सिद्धांत बने। महावीर ने छब्बीस सौ वर्ष पूर्व जो कुछ कहा, गांधी ने एक सौ वर्ष की इसी वर्तमान कालावधि में उन्हें दोहराया। देश स्वतंत्र हुआ और लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना हुई। भारत समूचे विश्व में सबसे बड़ा लोकतंत्रीय राष्ट्र है और इस पर गर्व भी हो सकता है, पर, फिर भी आज वे बातें नहीं जो महावीर ने तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करते हुए कही या गांधी के सत्य के प्रयोगों से निकलीं।

क्यों? क्या इसका सबसे बड़ा और प्रमुख कारण यह नहीं कि हम लोकतंत्र में तो जीते हैं, पर अभय नहीं हैं। यदि अभय नहीं हैं तो प्रेम भी नहीं है, तब करुणा कहां रहेगी और कैसे न्याय और समता की बात होगी? यह सब नहीं होगा तो घृणा ही होगी, अन्याय होगा, दुराचार और भय व्यापेगा। केवल भारत ही क्यों, समूचे विश्व की आज यही दशा हो रही है। आए दिन घटित होने वाली घटनाओं को गिनाने की यहां जरूरत नहीं, एक नजर दौड़ाने के साथ ही वे सामने आ उपस्थित होंगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ इस दृष्टि से बड़ी सटीक बात कहते हैं। वे बताते हैं—भय से ही हिंसा की भावना उपजती है। जो अभय को नहीं जानता, वह धर्म को भी नहीं जानता। वे परिग्रह में भय को देखते हैं, हिंसा को देखते हैं। वे बहुत आगे जाते हैं, कहते हैं—जिसे प्राणों का भय सताता है वह अहिंसक नहीं हो सकता। हम देख सकते हैं—अनेक घटनाएं और कई उदाहरण उपरोक्त कथन की पुष्टि में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पिछले वर्षों में राष्ट्रनायकों, राष्ट्राध्यक्षों के प्राणों का क्या होता रहा। प्राणों का भय ही तो था कि अस्त्र-शस्त्रों और अंग-रक्षकों से उनकी रक्षा की जा रही थी, पर रक्षा नहीं हो सकी। वयं रक्षामः तभी संभव है जब प्राणों का भय समाप्त हो जाए। अहिंसक समाज भी तभी स्थापित हो सकता है।

ऐसी आदर्श स्थिति आज दूर का सपना प्रतीत हो रही है। विश्व समुदाय जिस घमासान में धंसता जा रहा है, नहीं लगता कि वैसी आदर्श स्थिति फिर से पुनर्स्थापित हो सकेगी। ऐसी आशंकाओं से भी भय ही पैदा होता है। यही भय अस्त्र-शस्त्रों की होड़ कराता है। अणुबम इसी भय की देन है। वह सबलता नहीं; दुर्बलता का द्योतक है। जिसके पास अणुबम है, क्या अपनी रक्षा वह उससे कर सकता है? अणुबम के इस्तेमाल से सभी भयाक्रांत हैं। तब इसे शक्ति कैसे कहा जा सकता है? एक तरह से शक्ति का छल है यह, जंजाल है।

इस जंजाल को तोड़ना आज की महती आवश्यकता है। छल से मुक्त होना अपने समय की सुरक्षा करना है। अंधकूप की इस स्थिति में दीये का प्रकाश महावीर के दर्शन में निहित है और इसलिए आज यह जरूरी हो जाता है कि उनके दर्शन और सिद्धांतों को पुनर्व्याख्यायित किया जाए।

महावीर के दर्शन को धर्म और अध्यात्म तक सीमित रखना और धर्म को भी बाड़ाबंदी की हदों में दबाए रखना एक प्रकार से अपने ही समय के साथ अन्याय करना होगा, नाइंसाफी होगी। अतः यह जरूरी हो जाता है कि देश के उच्च अध्ययन संस्थान व विश्वविद्यालय इस दिशा में अपनी भूमिका को समझें और तदनुरूप कदम उठाएं।

महावीर के अनुयायी भी अपनी जवाबदारी समझें। प्राथमिक रूप से उनका ही पहला दायित्व है जो श्रमण महावीर को अपना सर्वस्व मानते हैं। यह विडंबना ही है कि महावीर के अनुयायी ही महावीर के दर्शन और सिद्धांत से दूर-दूर हैं। व्यावहारिक स्तर पर यह स्थिति अनुचित प्रतीत होती है। लेकिन इसका कारण क्या यह नहीं कि महावीर के दर्शन और सिद्धांत की व्याख्याएं अब तक धर्म-अधर्म की हद तक ही होती रही हैं। पाप-पुण्य और त्याग-तपस्या तक ही महावीर को सीमित रखा गया। व्यापक स्तर पर समाज को स्पर्श ही नहीं किया। महावीर को समझने-समझाने की दिशा में व्यापक स्तर पर कुछ हुआ ही कहां?

वयं रक्षामः तभी संभव है जब इस दिशा में कुछ हो। अब भी समय है।

—शुभू पटवा

विमर्श

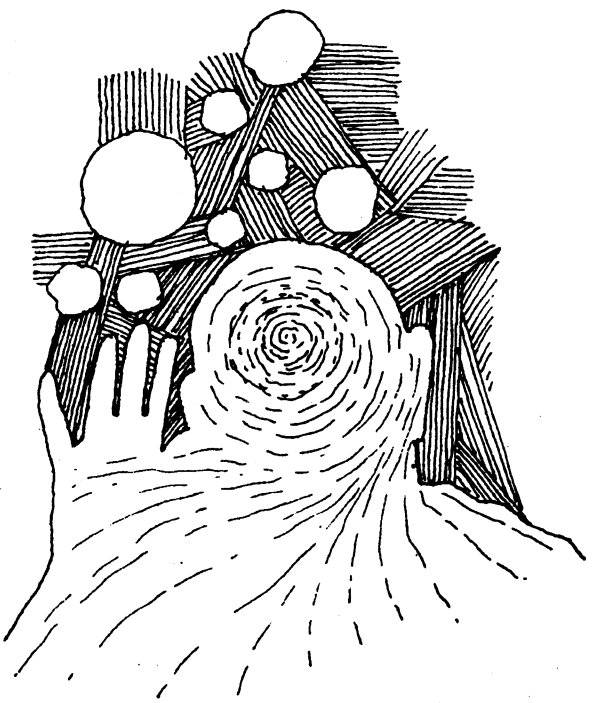

'इस बात में मुझे कभी बहुत अधिक विश्वास नहीं था कि 'अ' का योग की ओर मुड़ना उसके कर्मण्यतावाद से कुछ अधिक अच्छी चीज है। उसके लिए दो प्रबल बंधन हैं जो उसे रोकते हैं—'एक तो प्राण में महत्त्वाकांक्षा और कर्म करने, नेतृत्व करने की चाह, और दूसरा, मन में एक प्रकार का मानसिक आदर्शवाद।' ये दोनों चीजें भ्रम-भ्रांति की महान पोषक हैं। आध्यात्मिक मार्ग में कुछ हद तक यथार्थवाद की आवश्यकता होती है—मनुष्य को जो वस्तुएं और स्थितियां हैं उनका यथार्थ मूल्य देखना होता है जो कि बहुत ही कम होता है सिवा इसके कि वे क्रमविकास की सीढ़ियां होती हैं। फिर मनुष्य चाहे तो विश्रांति और मुक्ति के आध्यात्मिक निष्क्रिय पथ का अथवा जीवन में उतारने योग्य किसी महत्तर सत्य के आध्यात्मिक सक्रिय पथ का अनुसरण कर सकता है।'

—श्री अरविंद

वेदांत लक्ष्य का ज्ञान देता है, विज्ञान लक्ष्य-भेद का साधन उपलब्ध कराता है और सत्याग्रह इन दोनों का संयोजन करता है जिससे इन्हें प्रासंगिकता की शाश्वत सार्थकता प्राप्त होती है। इसीलिए भारत में, यूरोप की तरह, विज्ञान का विरोध नहीं हुआ बल्कि सदा विद्या और अविद्या की सह-साधना के लिए मार्ग प्रशस्त रहा। ●

◆ प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद

वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह

वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह के परिप्रेक्ष्य में संपूर्ण मानव-परंपरा को नए सिरे से समझने-परखने की जरूरत है। जिसे आधुनिक युग कहा जाता है उसका सारा चिंतन-लेखन यूरोप केंद्रित रहा है। दर्शन के इतिहास का अर्थ होता है पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, साहित्यशास्त्र के इतिहास का अर्थ होता है पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का इतिहास और विज्ञान के इतिहास का अर्थ होता है पाश्चात्य विज्ञान का इतिहास। इसीलिए हाजिमे नाकामुरा (ए कंपेरेटिव हिस्ट्री आफ आइडियाज, मोतीलाल बनारसीदास) जब लीक से हटकर कोई मौलिक प्रयास करते हैं तो उस ग्रंथ के रोनाल्ड बर्र जैसे लीक से बंधे विद्वान, धैर्य खोकर, संपादकीय भूमिका में ही इस प्रयास को भारत-केंद्रित कहकर इस पर आपत्ति करने लगते हैं। लेकिन प्रो. नाकामुरा का विश्लेषण-विवेचन अमूल अथवा निराधार नहीं है बल्कि वह प्रमाण-पुष्ट है। अपने एक अन्य ग्रंथ (वेज आफ थिंकिंग आफ ईस्टर्न पिपुल्स) में उन्होंने भाषा-प्रयोग का भाषाभिव्यक्ति एवं विचार-प्रक्रिया से अन्योन्याश्रय संबंध प्रमाणित कर यह दिखाया है कि भारतीय परंपरा में भाषा-प्रयोग की भिन्नता के कारण यहां भाव तथा विचार के विकास का मौलिक स्वरूप सर्वथा स्वतंत्र रूप में किस प्रकार विकसित होता आया है। कहने की आवश्यकता नहीं, संस्कृत भाषा की प्रकृति ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप का निर्धारण किया है।

भारतीय संस्कृति मूलतः आरण्यक संस्कृति रही है और भारतीय जीवन काव्यमय। जनक और अजातशत्रु जैसे राजर्षि वेदांत के अनुयायी अवश्य थे परंतु वेदांत की जीवन-दृष्टि का विकास भारतीय आरण्यकों में ही हुआ। भारतीय जन-जीवन वाल्मीकि की जिस रामायण और व्यास के जिस महाभारत से सतत प्रेरणा ग्रहण कर पल्लवित-पुष्पित होता आया है वे आर्ष काव्य आरण्यक संस्कृति और काव्यमय जीवन के ही पोषक रहे हैं। महान जर्मन कवि गेटे को कालिदास की शकुन्तला ने अपने जिस अनुपम सौंदर्य से अभिभूत किया वह वस्तुतः निसर्ग कन्या का ही सौंदर्य है। प्रकृति से विलग कर भारतीय संस्कृति की कल्पना की ही नहीं जा सकती। भारतीय संस्कृति का यह सौंदर्य गुलदस्ते के फूलों का नहीं बल्कि आरण्यकों और उद्यानों में उगे उन फूलों का सौंदर्य है जो मूल से सदा संपृक्त होने के कारण चिरजीवी होते हैं।

'...बीसवीं सदी यदि यूरोप और अमेरिका की थी तो इक्कीसवीं सदी और अगली सहस्राब्दी भारत की होगी; नहीं, नहीं; वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह के समन्वित तेज से दीप्त मानव की होगी...'—देश के प्रखर चिंतक-मनीषी प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद ने अपने आलेख की पिछली किस्त में इस अवधारणा को प्रस्थापित करते हुए इस तीसरी और अंतिम किस्त में माना है कि 'वेदांत एवं विज्ञान के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न हो सकती है उसे सत्याग्रही वृत्ति से जब तक मार्ग-दर्शन नहीं प्राप्त होगा तब तक अंतहीन युद्ध की दुखांत स्थिति में कोई मौलिक और स्थाई परिवर्तन नहीं आ सकता।'

तीन किस्तों (मई, जुलाई) के इस आलेख की यह आखिरी किस्त।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने मनुष्य को बुद्धिजीवी प्राणी कहा है। बृहदारण्य-कोपनिषद् (5.6.1) में 'मनोमयोऽयं पुरुषो' कहा गया है। निरुक्त की दृष्टि से भी मनुष्य मनोमय ही है, बुद्धिमय नहीं। मानव सभ्यता

मनुष्य के बुद्धिजीवी होने का, उसकी बुद्धिमयता का, कहां कोई प्रमाण देती है? वह अपनी पशुता को अपनी बुद्धि से कहां वश में कर पाया है? अतः वहां जीवन में उलझनें बढ़ती जा रही हैं और भौतिक समृद्धि के बावजूद सुख-संतोष मृगतृष्णा होता जा रहा है। भारतीय परंपरा में भावना को, मन एवं श्रद्धा को जो प्राथमिकता प्राप्त हो रही है, अब पश्चिमी विचारकों का ध्यान भी इस ओर उन्मुख हुआ है। डैनियम गोलमन (इमोशनल इंटेलिजेंस, बैंटम बुक्स) ने बुद्धि के स्थान पर भावना को ही मानव-जीवन में सुख और सफलता का आधार माना है। सारा भारतीय साहित्यशास्त्र भावना की प्राथमिकता की मान्यता के आधार पर ही रचा गया है। नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) का प्रसिद्ध सूत्र—'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—इस प्रस्थान का मूल बिंदु है। विश्वनाथ कविराज ने भरत के इस सूत्र की जो व्याख्या अपने 'साहित्य दर्पण' (3.2-3) में की है वह अद्वैत-तत्त्व की सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक विवृत्ति है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेदान्तरस्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।

लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वादते रसः।।

डॉ. सत्यव्रत सिंह (चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी) ने इसका इस रूप में अनुवाद किया है—'कुछ विरले लोग (सहृदय सामाजिक-जन) ही उस काव्यानंद (अथवा नाट्यानंद) का अनुभव किया करते हैं जिसे 'रस' कहा जाया करता है। इस 'रस' का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जब उनके हृदय में (काव्य-नाट्यपरिशीलन की महिमा से) सत्त्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो जाया करता है। यह सहृदय हृदय के अनुभव का विषय 'रस' एक अखंड (क्योंकि इसमें विभावादि का पृथक्-पृथक् अनुभव असंभव है), स्वयं प्रकाश (क्योंकि रस रूप अनुभव स्वयं प्रकाशित हुआ करता है न कि किसी अन्य ज्ञान का विषय बना करता है) किंवा आनंदमय रत्यादि-संवेदन रूप है, यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता, इसे यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एकमात्र आत्म-साक्षात्कार ही हो सकता है अन्य नहीं; इस अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव, यह आस्वाद ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नहीं आभासित हुआ करता जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानंद के अनुभव में (वही, पृ. 105)। साहित्य में 'रस' उसी का वाचक है जिसका वाचक वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त यह शब्द है। इसीलिए कृष्ण चैतन्य (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 23) इसका संबंध वेद से ही मानते हैं। आत्मानुभूति की तरह ही रसानुभूति भी 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' है। पर रसानुभूति की प्रक्रिया आत्मानुभूति की प्रक्रिया से किंचित् भिन्न है, इसी से विश्वनाथ कविराज ने इसके लिए 'ब्रह्मानंदस्वरूप' पद का प्रयोग न कर 'ब्रह्मास्वादसहोदर' का प्रयोग किया है।

'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगात्' से रस की निष्पत्ति क्यों होती है? क्यों इससे 'सत्त्वोद्रेक' होता है, जिसका अर्थ तम का रज में और रज का सत्त्व में पर्यवसान या उत्तरोत्तर संस्कार है। चूंकि ऐसा उत्तरोत्तर संस्कार हर दर्शक या श्रोता में संभव नहीं होता, इसीलिए सबको 'सहृदय' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए विश्वनाथ ने यहां 'कैश्चित् प्रभातृभिः' का प्रयोग कर सावधानी बरती है।

आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय दर्शन के विवेचकों का भारतीय साहित्यशास्त्र में रस-विवेचन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान गया ही नहीं है। वे (दर्शक के विवेचक) साहित्यशास्त्रियों की तरह तैत्तिरीयोपनिषद् (2.7) के 'रसो वै सः। रसं हि अयं लब्धा आनन्दी भवति' को बार-बार उद्धृत तो करते हैं परंतु साहित्यशास्त्र के इस विवेचन में सत्त्वोद्रेक की जिस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है उस ओर ध्यान न देने के कारण उनका विवेचन अस्पष्ट और अपूर्ण रह जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन पर पुस्तक तो लिखी परंतु 'भारतीय दर्शन' लिखते समय उनका ध्यान साहित्यशास्त्र की ओर गया ही नहीं। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने पांच खंडों में 'भारतीय दर्शन का इतिहास' ही नहीं रचा बल्कि 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भी लिखा है फिर भी उनका ध्यान भारतीय साहित्यशास्त्र की इस विलक्षणता की ओर नहीं गया है। अतः यदि एडवर्ड सईद जैसे बहुश्रुत लेखक भारत में साहित्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र के अभाव की बात करते हों तो कोई आश्चर्य क्यों (द्रष्टव्य, द वर्ल्ड, द टेक्स्ट ऐंड द क्रिटिक)?

वेदांत के व्यापक प्रभाव की दृष्टि से यहां 'चरक संहिता' से उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा। यहां सजीव को 'सेंद्रिय' और निर्जीव को 'निरिंद्रिय', चेतन और अचेतन कहा गया है (सूत्रस्थानम्-47)। 'सेंद्रिय' और 'निरिंद्रिय' शब्दों के प्रयोग में, चेतन और अचेतन के रूप में, वेदांत के साथ-साथ आधुनिक विकासवाद का भी पूर्वाभास है। जो आज निरिंद्रिय और अचेतन है वही समय की गति के साथ कभी सेंद्रिय और चेतन भी हो जाता है। मैं आयुर्वेद की इस मूल संहिता का यहां इसलिए उल्लेख कर रहा हूं कि इसे आज भी

विज्ञान की कोटि में ही परिगणित किया जाता है। चिकित्साशास्त्र के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. अलेक्सिस कैरेल ने 'मैन, द अननोन' नामक अपनी पुस्तक के अंत में लिखा है कि हमें निर्जीव विज्ञान के मायाजाल से निकल जीव विज्ञान की ओर लौटना होगा जिससे हमारा आत्म-ज्ञान का अज्ञान दूर हो सके (वही, पृ. 234, विल्को बुक, बंबई)। इसीलिए महर्षि आइंस्टाइन ने लिखा है कि मानव-जीवन का सुंदरतम अनुभव है रहस्य की अनुभूति। यही वह मूल भावना है जिसके पालने में सच्ची कला और सच्चा विज्ञान विकसित होता है (द वर्ल्ड ऐज आई सी इट, थिंकर्स लायब्रेरी, पृ. 5)। यह अनुभूति की वह अवस्था होती है जिसमें वेदांती, वैष्णव, सर्वेश्वरवादी, लोकोत्तरवादी, ब्राह्मण और सूफी आदि के भेदों का लय हो जाता है। एवलिन अंडरहिल की दृष्टि में कबीर की सारग्राहिता ऐसी ही थी (वन हंड्रेड पोयेम्स आफ कबीर, अनु. रवीन्द्रनाथ टैगोर, भूमिका, पृ. 15)।

भारतीय ऋषियों, संतों और भक्तों की चरम अनुभूति की अभिव्यक्ति की भारतीय परंपरा में रचित साहित्यशास्त्र में जो व्याख्या की गई है वह इसीलिए जिस रस-दशा का विवेचन है वह वस्तुतः रहस्य-भाव, दर्शन की भाषा में अद्वैत-भाव, का ही होता है। भरतमुनि से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक सभी भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने ही नहीं बल्कि वैदिक युग एवं चरक आदि से लेकर आचार्य जगदीश चन्द्र बसु तक भारतीय वैज्ञानिकों ने भी जीवन और जगत के इस अद्वैत-भाव को अपने-अपने शास्त्रों की शैली में अभिव्यक्त किया है। हां, ये सभी शंकराचार्य के इस मायामूलक अद्वैतवाद को नहीं स्वीकार करते कि 'आत्मा नित्य और सत्स्वरूप है तथा देह अनित्य और असत् है; इन दोनों की जो एकता देखते हैं इससे बढ़कर और क्या अज्ञान होगा?' (अपरोक्षानुभूति, 21, गीता प्रेस, गोरखपुर) शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने न केवल इस भ्रामक अद्वैतवादी दृष्टि को अस्वीकार कर दिया बल्कि तंत्र में शव को शक्ति से युक्त कर उसे शिव का रूप प्रदान करने की साधना-पद्धति विकसित हुई। आधुनिक विज्ञान भी, यदि वह दिशा-हीन नहीं हो जाता, तो वह शव अर्थात् निर्जीव के शिव में रूपांतरण की ही साधना है। पदार्थ का ऊर्जा में रूपांतरण इसी का प्रमाण है जो चेतना का पूर्व-रूप है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सत्त्वोद्रेक की मूल मान्यता के आधार पर जो रस-विवेचन किया गया है उसके पीछे यह भावना रही है कि काव्य—दृश्य या श्रव्य—श्रोता और पाठक की भावनाओं का संस्कार करता है। भारतीय परंपरा में जिसे सहृदय कहा गया है उसके संबंध में (ध्वन्यालोकलोचन अभिनवगुप्त) लोचनकार की इस परिभाषा को अक्सर उद्धृत किया जाता है—'सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूत मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः' (सहृदय, विद्यानिवास मिश्र, साहित्य अकादेमी, पृ. 47) अर्थात् वे सहृदय हैं, जिनका हृदय-दर्पण काव्य के गहन अनुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है और इसीलिए उस हृदय-दर्पण में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की क्षमता आ गई है।

'रसो वै सः' (तै.उ.) में प्रयुक्त रस, आत्मानुभूतिरस के प्रसंग में प्रयुक्त हो अथवा काव्यानुभूतिरस के प्रसंग में, दोनों की समान विशेषता है तन्मयता। मुण्डकोपनिषद् (2.2.4) में ऋषि ने कहा है—'शरवत्तन्मयो भवेत्'—शरवत् तन्मयता से ही ब्रह्म-लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में इसे 'वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता' कहा है। यह समानता न तो आकस्मिक है, न अनुकृत। यह भारतीय परंपरा की उस तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि का प्रमाण है जो संपूर्ण जगत के यथार्थ की संपूर्ण अनुभूति को उसकी यथातथ्यता में ग्रहण करती है। अनुभूति के इसी मूल उत्स से वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह प्रेरणा पाते हैं।

लेकिन यह रस जीवन का वह लौकिक रस नहीं है जिसे षट्रस कहा गया है, जो सत्त्व के उद्रेक की स्थिति में नहीं बल्कि तम या रज की स्थिति में भी आस्वाद्य होता है। इसीलिए ब्रह्मास्वाद या आत्मानुभूति के प्रसंग में इस लौकिक रस का वर्णन कर उस परम तत्त्व के दर्शन के लिए तन्मय होने के लिए कहा जाता है जिससे हृदय की सभी गांठें खुल जाती हैं, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और कर्मों के शुभाशुभ परिणाम भी नष्ट हो जाते हैं (मुण्डक. 2.2.8)। गीता में भी कहा गया है कि विषय की तृष्णा शरीर को निराहार रखने से नहीं बल्कि ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन से ही निवृत्त होती है (गीता, 2.59)। सत्त्व गुण की वृद्धि से ही ब्रह्म-दर्शन संभव होता है। गीता (गुणत्रयविभाग योग, चौदहवां अध्याय-11) में कहा गया है कि जब शरीर के समस्त द्वारों में प्रकाश के चिह्न उत्पन्न हों तो समझना चाहिए कि सत्त्व गुण की वृद्धि हुई है। गीतोक्त साधना-योग से जिस प्रकार सत्त्व-गुण की वृद्धि संभव होती है उसी प्रकार से काव्य-योग के सतत अनुशीलन से भी; क्योंकि इससे सहृदय का मनोमुकुर विशदीभूत हो जाता है और उसमें तन्मय होने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है (लोचनकार अभिनवगुप्त)।

गीतोक्त साधना-योग एवं काव्य-योग (भरत, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, रामचन्द्र शुक्ल) की समानता

मननीय है। छान्दोग्योपनिषद् (7.23.1) में कहा गया है कि निश्चय ही जो भूमा है वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख-स्वरूप है। इसके अगले मंत्र में बताया गया है कि जहां अन्य कुछ न देखता है, न अन्य कुछ सुनता है और न ही अन्य कुछ जानता है, वही भूमा है। पांडवों और कौरवों की शिक्षा की समाप्ति के पश्चात्, उनकी परीक्षा लेने के अवसर पर द्रोणाचार्य ने अपने सभी शिष्यों से एक ही प्रश्न पूछा था—'तुम्हें क्या दिखाई देता है?' केवल अर्जुन ने ही सही उत्तर दिया था—'मुझे केवल आंख दिखाई देती है।'

वेदांत लक्ष्य का ज्ञान देता है, विज्ञान लक्ष्य-भेद का साधन उपलब्ध कराता है और सत्याग्रह इन दोनों का संयोजन करता है जिससे इन्हें प्रासंगिकता की शाश्वत सार्थकता प्राप्त होती है। इसीलिए भारत में, यूरोप की तरह, विज्ञान का विरोध नहीं हुआ बल्कि सदा विद्या और अविद्या की सह-साधना के लिए मार्ग प्रशस्त रहा। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विज्ञान में गहरी रुचि थी और चंद्रशेखर जैसे भौतिकशास्त्री शेक्सपियर, न्यूटन, बीठोवन की रचनाधर्मिता की रीति तथा विज्ञान में सौंदर्य की खोज पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं (ट्रुथ ऐंड ब्यूटी, वही, पृ. 15-29 तथा 29-58)। आइंस्टाइन, हाइजेनवर्ग, ओपेनहाइमर जैसे वैज्ञानिकों में भी अनुभूति का यह सात्त्विक स्वरूप काव्यमयी भाषा में अभिव्यक्त हुआ है। यूरोपीय दार्शनिकों में प्लेटो के पश्चात् अनुभूति की यह संपन्नता लगभग समाप्त हो गई और उसका स्थान ले लिया शुष्क तार्किकता ने। ऐसी शुष्क तार्किकता जीवन और जगत के यथार्थ की भौतिकता की रमणीयता नहीं देख पाती और उसे चार्वाक के 'ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत' तक ही सीमित कर अबाध भोग में ही जीवन की ऊष्मा का अंत मान लेती है, उसके ऊर्ध्वारोहित प्रस्फुटन की रमणीय अभिव्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान रह ही नहीं जाता। रमणीयता को पंडितराज जगन्नाथ ने 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' कहा है (रसगंगाधर और उस पर नागेश भट्ट की टीका, मोतीलाल बनारसीदास)। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उक्ति और आइंस्टाइन की उद्धृत उक्ति में कितना अधिक साम्य है। इस दृष्टि से डॉ. आनन्दकुमार स्वामी की यह उक्ति आज भी उतनी ही प्रासंगिक है कि विश्व को भारत की सर्वोत्तम देन है सामाजिक समस्याओं के समाधान में धार्मिक दर्शन में उसकी अटूट आस्था क्योंकि यहां दर्शन को जीवन के यथार्थ से तद्वत् माना गया है (द डांस आफ शिव, सागर पब्लिकेशन्स, 1968 पृ. 19)।

मुण्डकोपनिषद् (3.2.6) में ऋषि ने वेदांत के अर्थ को सुनिश्चित करने के लिए कहा है। यहां विज्ञान का अर्थ आधुनिक भौतिक विज्ञान नहीं बल्कि आत्मानुभूति है जो किसी वस्तु की शाब्दिक जानकारी से भिन्न होती है। वेदांत विज्ञान से अर्थ वे ही सुनिश्चित कर सकते हैं जो यति संन्यासयोग से शुद्धसत्त्व हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि सत्त्व की शुद्धता के बिना वेदांत का सुनिश्चित अर्थ जानना संभव नहीं है।

भारतीय साहित्यशास्त्र (काव्यशास्त्र) काव्य के वेदांत विज्ञानसम्मत अर्थ को सुनिश्चित करने की दृष्टि से ही रचा गया है। काव्यशास्त्रियों ने अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति आदि काव्यांगों का विवेचन रस के आस्वादन में इनके सहायक होने की दृष्टि से ही किया है। अतः उनकी दृष्टि मूलतः सत्याभिनिवेशी रही है। इसीलिए शंकराचार्य को भी अंततः स्वीकार करना पड़ा है कि जिस प्रकार घड़ा मिट्टी रूप होता है उसी प्रकार देह भी चेतन रूप है। अज्ञानीजन व्यर्थ ही यह आत्मा और अनात्मा का विभाग करते हैं (अपरोक्षानुभूति, 69)।

भारतीय परंपरा में धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र आदि सबका एक ही लक्ष्य है—मोक्ष की प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करना। इसीलिए नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहा गया है। (नाट्यशास्त्र 1.4)। आगे इसे सार्ववर्णिक पंचमवेद भी कहा गया है (वही, 1.12)। इसकी व्यापकता के संबंध में भरतमुनि ने स्वयं कहा है कि 'न ऐसा कोई ज्ञ... है, न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी कोई विद्या या ऐसी कोई कला है, और न ऐसा कोई योग या ऐसा कोई कर्म है जो इस नाट्य में दिखलाई न देता हो' (नाट्यशास्त्र, 1.116, हिंदी अभिनवभारती, संपादक तथा भाष्यकार आचार्य विशेश्वर, पृ. 213)।

जयशंकर प्रसाद ने लिखा है कि 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध)। संकल्पात्मक अनुभूति में संकेंद्रियता और तीव्रता होती है और अभिव्यक्ति में रमणीयता। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि 'संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है' (वही)। भरतमुनि की ऊपर उद्धृत उक्ति की परंपरा को क्रम-विकास की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हजारों वर्षों के लंबे अंतराल के बाद भी काव्य के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण मूलतः वही है। महर्षि रमण, परमहंस श्री रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद, महायोगी श्री अरविंद और महात्मा गांधी जीवन के उसी अंतिम लक्ष्य को स्वीकार करते हैं जिसे वैदिक ऋषियों ने उद्घोषित किया था। अतः वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह की पृष्ठभूमि में वाल्मीकि से लेकर जयशंकर प्रसाद तक भारतीय

कवि भी उसी परंपरा को पुष्ट करते आ रहे हैं। इस संबंध में मैंने अन्यत्र लिखा है—'आज मुझे ऐसा लगता है कि सत्य के पक्ष में लोकमत की विजय का एक नया अवसर सामने आया है। अणु परीक्षण के पश्चात् अब भारत धर्म और विज्ञान को सत्योन्मुखी बनाने के साथ सत्ता को सेवोन्मुखी बनाने के ऐतिहासिक कार्य का आरंभ कर सकता है। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि लोकमत किसी की मुट्ठी में नहीं होता। यदि राम की मुट्ठी में होता तो सीता को वनवास देने का अवसर आता? इन्दिरा गांधी की मुट्ठी में होता तो उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ता?' (आस्था पुरुष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. 169-70), जो काम राम-बाण से नहीं हो सका वह वाल्मीकि की वाणी और वीणा से हो गया (वही, वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 93-97)। ऐसा इसलिए कि 'लोकमत की पुनर्रचना होती है। मार्ग वाल्मीकि का बताया हुआ है। उनकी रामायण ने लोकापवाद को दूर किया' (वही, पृ. 170)। इस शक्ति का रहस्य क्या है? 'काव्य, साहित्य, कला, संगीत, दर्शन आदि विचार और कल्पना की अभिव्यक्ति के माध्यम अणु से भी सूक्ष्म होते हैं और इनकी शक्ति अणु-शक्ति से भी अधिक होती है। इसका वाहक अणु-परीक्षण के वाहक से भी अधिक प्रभावशाली होता है। मानव-समाज इनकी सर्जनात्मक क्षमता पर ही टिका हुआ है' (वही, पृ. 170)।

आज नाभिकीय भौतिकी में अणु-परमाणु का जो विश्लेषण मिलता है, उससे अधिक सूक्ष्म और युक्तिसंगत विश्लेषण जब महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र में मिलता है तो यह मानना पड़ता है कि पदार्थ-तत्त्व-विश्लेषण की भारतीय परंपरा अत्यंत प्रौढ़ थी। वैशेषिक की ही तरह न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, वेदांत, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि जो कि विकसित दार्शनिक परंपराएं थीं; व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष आदि वेदांग की परंपराएं तथा संपूर्ण वैदिक एवं आर्ष काव्य-परंपरा तथा आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि अन्य शास्त्रों से भारतीय जीवन को जो समृद्धि प्राप्त हुई थी उन सबके समवेत प्रभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति को विलक्षणता, विशिष्टता और संजीवनी प्राप्त होती आई है। इसीलिए बीसवीं सदी का भारतीय कवि आज आत्मविश्वासपूर्वक यह कहने की स्थिति में है—

'अपने दुख सुख पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।'
—कामायनी (आनंद)

वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह की त्रिवेणी की पावन छटा जिस रमणीयता के साथ यहां अभिव्यक्त हुई है उससे 'कामायनी' नई सहस्राब्दी की नई गीता प्रतीत होती है। इसीलिए इस महाकाव्य की समाप्ति इन पंक्तियों में होती है—

'समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।' —(वही)

पर 'कामायनी' फंतासी नहीं (जैसा कि गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में लिखा है) बल्कि वह है प्रलय के उपरांत मानव-संस्कृति के नवोन्मीलन की रमणीय अभिव्यक्ति—

'नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।'

इन पंक्तियों (आशा) में, प्रलय की पृष्ठभूमि में, आशा के उदय का जो उल्लास है, जीवन की स्वीकृति की जो ललक है, वह बीसवीं सदी के संसार के किसी अन्य काव्य में देखने को मिलेगी क्या? आगामी सहस्राब्दी की भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली 'कामायनी' भारत में ही क्यों रची गई?

लेकिन ऐसी सांस्कृतिक प्रौढ़ता और विराट् सौंदर्य-बोध की रमणीय अभिव्यक्ति एक रोज में विकसित नहीं होती। इसके लिए सहस्राब्दियों तक हजारों पीढ़ियों को सतत प्रयास-रत रहना होता है। इसलिए वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह के प्रसंग में, सूत्र रूप में, वैदिक युग से आज तक की परंपरा और प्रयास की चर्चा कर रहा हूं। पर अंत में मैंने काव्य और काव्यशास्त्र की इसलिए चर्चा करना आवश्यक समझा कि आज चाहे इनकी जितनी उपेक्षा हो रही हो परंतु इनके माध्यम और इनकी रीति को स्वीकार किए बिना अणु बम की शक्ति भी मानव-समाज को आए दिन के अनगिनत लोकापवादों से नहीं बचा सकती। अतः वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह के स्वस्थ सहयोगपूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि काव्य और काव्यशास्त्र के माध्यम से सारे संसार में स्वस्थ लोकमत का निर्माण किया जाय। जो काम कभी वाल्मीकि ने किया था वह काम संसार में अन्य किसी कवि ने कभी नहीं किया। इस अनुभव को भारत पुनः

तरोताजा कर सकता है और सारे संसार को भी अपने इस अनुभव का लाभ दे सकता है।

इतिहास कब करवट लेता है? प्रेमचन्द ने लिखा है—'जो काम अच्छी नीयत से किया जाता है, वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यज्ञ का अगर कुछ फल न मिले तो यज्ञ का पुण्य तो मिलता ही है। ...हमें जो कुछ बलिदान करना पड़ा, वह उस जागृति को देखते हुए कुछ भी नहीं है, जो जनता में अंकुरित हो गई है। क्या तुम समझते हो, इन बलिदानों के बिना यह जागृति आ सकती थी,' और इस जागृति के बिना यह समझौता हो सकता था? मुझे इसमें ईश्वर का हाथ साफ नजर आता है।' (कर्मभूमि) कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पंक्तियों में प्रेमचन्द ने सत्याग्रह के प्रभाव से आए रचनात्मक प्रभाव का ही विवेचन किया है। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह ऐसे विज्ञान का रूप ले लेता है जिसमें वेदांत समाहित हो जाता है।

डॉ. कपिला वात्स्यायन ने भट्टनायक के इस मत का उल्लेख करते हुए कि काव्य का उद्देश्य भी पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति ही है, इस पर भी प्रकाश डाला है कि अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक जो भाष्य रचा, उसे वैसी पूर्णता प्रदान करने में कश्मीरी शैव-दर्शन का बड़ा भारी योगदान है (भरत, द नाट्यशास्त्र, साहित्य अकादेमी, पृ. 147-161)। भरत-नाट्य आज भी अपने मूल रूप में दक्षिण में प्रचलित है। नाट्यशास्त्र की मूल प्रति केरल के मालाबार में ही प्राप्त हुई थी, कश्मीर या कहीं और उत्तर भारत में नहीं। परंतु भारतीय काव्यशास्त्र को परिपूर्णता अभिनवगुप्त रचित 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन' में ही प्राप्त हुई।

त्रिदेवों में शिव की गणना, या पंचदेवता में उनकी पूजा के बावजूद भारतीय जीवन, दर्शन, काव्य और काव्यशास्त्र पर शैव-दर्शन के प्रभाव को ठीक-ठीक आंका नहीं गया है। क्या कारण है कि भरतमुनि, कालिदास, अभिनवगुप्त और जयशंकर प्रसाद जैसी प्रथम श्रेणी की भारतीय प्रतिभाएं शैव थीं? डॉ. आनन्द कुमार स्वामी ने नटराज के नर्तित वेश की पृष्ठभूमि में ही भारतीय कला और संस्कृति की, आधुनिक पाठकों के लिए ग्राह्य, सारग्राही व्याख्या करने में विश्वविश्रुतता कैसे प्राप्त की? इसका कारण यह है कि शैव दर्शन की दृष्टि में परमतत्त्व केवल प्रकाश नहीं है, जैसा कि शांकर वेदांत मानता है, बल्कि वह विमर्श भी है अर्थात् अपना ईक्षण भी करता है (क्षेमराज रचित प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—अनुवादक, व्याख्याकार और संपादक—जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, उपोद्घात, पृ. 7)। ऐतरेयोपनिषद् (1.1.3, 1.3.1, 1.3.11) में ईक्षण शब्द का अनेक बार प्रयोग मिलता है। प्रकाश शव है, विमर्श शक्ति, चित् शव है, चिति शक्ति। इन दोनों के युक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति जब अर्द्ध नारीश्वर के रूप में होती है तब वही जड़ तत्त्व में शक्ति के स्पंदन या स्फुरण का आरंभ होता है; तभी नटराज लास्य नृत्यरत होते हैं जिसके कारण सृष्टि के लिए आवश्यक विद्युत्कण आकृष्ट हो नाना रूप ग्रहण करते हैं, और जब नटराज तांडव नृत्यरत होते हैं तो विकर्षण क्रिया के कारण सृष्टि का लय हो जाता है। स्पष्ट है, इस दर्शन में जीवन और जगत की असारता नहीं बल्कि उसकी सरसता व्यंजित होती है जो सत् की युक्तिसंगत व्याख्या प्रतीत होती है। इसीलिए भरतमुनि पितामह के साथ परमेश्वर को भी शिरसा प्रणाम करते हैं (नाट्यशास्त्र, 1.1); कालिदास 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ; (रघुवंशम्, 1.1) ही नहीं कहते बल्कि उनके शिव 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' (कुमारसंभवम्, 5.33) भी घोषित करते हैं। अभिनवगुप्त ने अपनी 'भारती' के प्रथम श्लोक में इस रूप में शिव की वंदना की है—'वंदे तमां तमहमिन्दुकलावतंसम्' अर्थात् उन चंद्रकलाधारी शिव को मैं अत्यंत भक्तिभाव से नमस्कार करता हूं। प्रकाश में 'ईक्षण', विमर्श, तत्त्व का योग अनादि और अनंत है।

जयशंकर प्रसाद ने 'नटराज स्वयं थे नृत्य निरत' (कामायनी, दर्शन) का शब्द-चित्र इस रूप में अंकित किया है—

'लीला का स्पंदित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद
आनंद पूर्ण तांडव सुंदर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर;
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर;
संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।'

नृत्य निरत नटराज के युगल पाद, उस गति से अनाहत का नाद में रूपांतरण, उससे लीला के आह्लाद का स्पंदन, फिर चितिमय प्रभा पुंज से ब्रह्मांड का सृजन, एक पाद से सृजन और दूसरे से संहार, लास्य से सृजन और तांडव से संहार—यह एक ओर नृत्यरत नटराज का सर्वोत्तम शब्द-चित्र है और दूसरी ओर आधुनिक भौतिकी पर आधारित सृष्टिशास्त्र ($E=MC^2$, क्वांटम फिजिक्स, सुपर स्ट्रिंग वायब्रेशन आदि की दृष्टि से सत् के निरूपण) के महाविस्फोट की स्थिति की वैज्ञानिकों द्वारा की गई कल्पना का कवित्वपूर्ण चित्रण। क्वांटम फिजिक्स अणु-कण की

इकाई को पदार्थ और ऊर्जा दोनों मानता है और उसे पदार्थ या ऊर्जा न कहकर 'क्वांटा' कहता है। शैव दर्शन के अनुसार चित् शक्ति के स्पर्श से चिति हो जाता है, शव में स्पंदन का आरंभ शक्ति के स्पर्श से ही होता है। वैदिक और औपनिषदिक वेदांत तथा ब्रह्मसूत्र की शैव व्याख्या इसीलिए जितनी युक्तिसंगत और वैज्ञानिक प्रतीत होती है उतनी आदि शंकराचार्य की व्याख्या नहीं। अपनी व्याख्या के अंतर्विरोध को दूर करने के लिए उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी, जो अवैदिक है, और जिसके माया-जाल ने भारतीय प्रतिभा की प्रखरता को राहु की तरह ग्रस लिया, जिससे मुक्त होने के लिए वह आज भी छटपटा रही है।

वैदिक ऋषियों की वितर्क भाषा (तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वंतिके, ईशावास्योपनिषद्) का अब वैज्ञानिक भी प्रयोग करने लगे हैं। (रोजर पेनरोज की दो पुस्तकों के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है—1. द इम्पेरर्स माइंड, 2. शैडोज आफ द माइंड : ए सर्च फार द मिसिंग साइंस आफ कनशशनेश, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)। अमल किरण (के.डी. सेठना—साइंस, मैटेरियलिज्म, मिस्टिसिज्म, द इटेग्रेल लाइफ फाउंडेशन, यू.एस.ए.) तथा एन.सी. पंडा (द वाइब्रेटिंग यूनिवर्स, मोतीलाल बनारसीदास) जैसे भारतीय लेखक स्वभावतः नवीनतम वैज्ञानिक शोधों की दार्शनिक परिणतियों पर, पाश्चात्य लेखकों की तुलना में अधिक सूक्ष्म, व्यापक और युक्तिसंगत दृष्टि से विचार करते हैं तो आश्चर्य नहीं होता क्योंकि भारत में इसकी परंपरा विश्व में प्राचीनतम ही नहीं समृद्धतम भी है।

वेदांत और विज्ञान की दार्शनिक परिणतियों पर तो गंभीरतापूर्वक विचार हो रहा है लेकिन इनकी सामाजिक-सांस्कृतिक परिणतियों एवं संरचना से जुड़े प्रश्नों पर न तो पहले कभी सांगोपांग विचार किया गया, न आज ही किया जा रहा है। इस दृष्टि से सत्याग्रह की प्रासंगिकता सर्वाधिक महत्त्व रखती है क्योंकि यह वेदांत एवं विज्ञान की सह-साधना के कर्मयोग की स्वाभाविक परिणति है। इसके बिना विज्ञान और वेदांत दोनों अपूर्ण रह जाते हैं।

वेदविहित सामाजिक संरचना की अपर्याप्तता के संबंध में यहां एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। मनु ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' के अनुरूप धर्म के जो दस लक्षण बताए हैं वे वर्णाश्रम-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था पर आधारित न होकर मानवमात्र के लिए हैं, सार्ववर्णिक हैं, परंतु आचार को आधार मानकर उन्होंने जिस सामाजिक संरचना की व्यवस्था दी वह कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो गई जिसके कारण कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था ने जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का जैसा रूप ले लिया उससे समाज में जड़ता आ गई, उसकी गतिशीलता नष्ट हो गई और समाज में उत्तरोत्तर अधिकाधिक बिखराव आते जाने के कारण समाज की शक्ति क्षीण होती गई।

महावीर, बुद्ध आदि ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध तो किया परंतु सामाजिक संरचना का कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया, इसी प्रकार से कबीर, नानक आदि संतों ने भी कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक आदि के अनुयायी भी अंततोगत्वा, किसी न किसी रूप में वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के प्रभाव में आ गए। इतना ही नहीं, ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर भी इनका कमोबेश प्रभाव पड़कर ही रहा।

वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था कभी भी पूरी तरह से भारतीय समाज में मान्य रही ही नहीं। परशुराम, रावण, द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मणों ने क्षात्र धर्म को अपना लिया और मनु, विश्वामित्र, जनक आदि ने ब्राह्मणों के लोक-शिक्षण धर्म को। आधुनिक युग में धन के ही प्रभाव में सभी वर्णों और जातियों के धर्म समाविष्ट हो गए। जिसमें पैसा मिलता है उस व्यवसाय को अपनाने के लिए आज हर कोई स्वतंत्र है, अतः पैतृक व्यवसाय जैसी परंपरा का लोप-सा होता जा रहा है।

यह सब इसलिए हो रहा है कि समाज की संरचना के लिए वेदांत और विज्ञान ने सत्याग्रही मनोवृत्ति विकसित करने की ओर ध्यान दिया ही नहीं। आज भी सामाजिक संरचना का आधार स्थूल शक्ति ही है, जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत आज भी चरितार्थ होती है। धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, वैध-अवैध, नैतिक-अनैतिक के निर्णय में निर्णायक तत्त्व सत्य नहीं, सत्ता होती है। स्थिति आज भी लगभग वैसी है जैसी प्राचीन काल में सुर-असुर द्वंद्व के समय थी, जिसका चित्रण जयशंकर प्रसाद ने (कामायनी, इड़ा) इन शब्दों में किया है—

'था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वासहीन
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें, क्यों हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध'

आज भी क्या तर्क के बदले शस्त्रों का ही सहारा निर्णय लेने के लिए नहीं लिया जा रहा है? परिणाम, हर युद्ध दूसरे युद्ध का जनक होता है, एक अंतहीन सिलसिला।

वेदांत एवं विज्ञान के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न हो सकती है उसे सत्याग्रही वृत्ति से जब तक मार्ग-दर्शन नहीं प्राप्त होगा तब तक अंतहीन युद्ध की दुखांत स्थिति में कोई मौलिक और स्थाई परिवर्तन नहीं आ सकता। महात्मा गांधी ने लिखा है—'सत्य से भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया। ...ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीवमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है।

...बिना आत्मशुद्धि के जीवमात्र के साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा-धर्म का पालन सर्वथा असंभव है। अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में सर्वथा असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रों में शुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट का संबंध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि के बराबर हो जाती है। ...अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और यह अनुभवसिद्ध बात है कि इस नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिलती' (आत्मकथा, नवजीवन, 1957, पृ. 432-33)।

वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह की समन्वित दृष्टि से जो सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना भविष्य में कारगर हो सकती है, महात्माजी की इन पंक्तियों में उसी की झांकी दी गई है। ❖

'[redacted]'

जब हम शिक्षण की बात करते हैं, तो ऊपर से सारे लोग ढंग की बात सोचते हैं, मोंटेसरी इत्यादि। बुनियादी तालीम भी एक पद्धति मानी जाती है। इसमें सिर्फ पद्धति का सवाल नहीं, दृष्टि का भी सवाल है। दुनिया में झगड़े पैदा क्यों हुए? क्योंकि ज्ञान को कर्म से अलग कर दिया—केवल कल्पनामात्र से। यह मानस-शास्त्र की गलती है। समाज में ज्ञान और कर्म को अलग किया—यह समाज-शास्त्र की गलती है। और आर्थिक क्षेत्र में दोनों को अलग किया—यह अर्थशास्त्र की गलती है। कर्म और ज्ञान अलग हो ही नहीं सकते। जो अलग करेगा, वह विचार को समझता ही नहीं। कोई भी ज्ञान क्रिया के बिना होता नहीं। निष्क्रिय ज्ञान, कर्म के सिवा होने वाला ज्ञान, ऐसा एक ही है : 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूं। अपने स्वरूप का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान रमण महर्षि के पास जाकर सीखना होगा। आत्मतत्त्व का ज्ञान एक ही ऐसी वस्तु है, जो बिना क्रिया के संभव है। बाकी सब ज्ञान क्रिया से जुड़ा हुआ है। ज्ञान क्रिया से भिन्न नहीं हो सकता। जो ज्ञान क्रिया से भिन्न है, वह ज्ञान नहीं है। और क्रिया भी ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकती। यह दृष्टि का विषय है। इस वास्ते मानस-शास्त्र की गलती होगी, अगर ज्ञान को कर्म से अलग समझेंगे।

लोग पूछते हैं—आपकी पद्धति में दो-तीन घंटे काम करेंगे, तो ज्ञान कैसे मिलेगा? तो फिर मुझे भी लगता है कि वे लोग सिर्फ पढ़ते ही रहेंगे, तो उन्हें ज्ञान कैसे मिलेगा? बहुत आश्चर्य होता है कि तीन घंटे में 60-70 पन्ने पढ़ने वाला क्या इतना सारा तीन घंटे में पढ़ गया? वह तो आंख का व्यायाम हुआ। यह ठीक नहीं है। हम समझते हैं कि पुस्तक पढ़ना, ज्ञान का साक्षात् साधन है। लेकिन मैं समझता हूं कि पुस्तक हमारे और सृष्टि के बीच परदा है। गाय से जो ज्ञान होता है, वह उसके चित्र से या 'गाय' शब्द से होगा? आम का ज्ञान पुस्तक पढ़ने से नहीं होता, आम खाने से होता है।

—विनोबा

मनुष्य को अमृत-पुत्र बताना और चराचर में दिव्यता को ओत-प्रोत देखना इसी संस्कृति का मौलिक आग्रह रहा। इसी से जीवन को भी, भोग को भी पुरुषार्थ ही माना गया, किंतु विषयासक्ति के चक्कर में आत्मविस्मृत न हो जाएं—यह चौकसी रखी गई और धर्म से अविरुद्ध 'काम' को ही स्वीकार किया गया—कामनाओं के पीछे भागने को नहीं। धर्म की ऐसी व्यापक, गहरी संकल्पना और कहीं नहीं की गई। मानव की भोग-वृत्ति को भी धर्म की मर्यादा में अकुंठ स्वीकृति दी गई। ●

◆ रमेशचंद्र शाह

भारतीयता : इक्कीसवीं सदी की देहरी पर

दो अनमेल संस्कृतियों की टकराहट खच्चर सरीखे बांझपन को जन्म देती है—ऐसा इस सदी के एक ऐसे महाकवि का कहना है जो भारत से भावित और प्रभावित रहा है। एक बंगाली प्रोफेसर जब उससे मिलने गए और भारत के लिए उसका संदेश मांगा तो वह चिल्लाया—'कॉनफ्लिक्ट, मोर कॉनफ्लिक्ट!' यह तीस के दशक की घटना है। उस कवि को 'भारतीय परंपरा की बुझती हुई लौ' (यह उसी का मुहावरा है) से जहां प्रेरणा मिलती थी—दार्शनिक समाधान मिलता था, वहीं स्वयं भारतीय लोगों का पाश्चात्य संस्कृति के प्रति नकलची हीन भाव उसे बहुत विस्मित और विक्षुब्ध करता था।

वह स्वतंत्रता-संग्राम का दौर था जब एक से एक मनीषी और आत्मविश्वास से भरे लोग हमारे बीच में मौजूद थे। आज महापुरुषों की—भारतीय संस्कृति के जागृत-जीवंत प्रतिनिधियों की वह फसल पूरी तरह सूख चुकी है। कोई अरविंद, कोई गांधी, कोई रमण महर्षि... हमारे यहां अवतरित होने वाला नहीं है। यहां तक कि इनसे कमतर दूसरी पंक्ति के लोगों—विनोबा, जे.पी., लोहिया, मुंशी, राजगोपालाचारी जैसे नेताओं तक के लाले पड़ गए हैं। पर हम इस तरह सोचें ही क्यों? औसत भारतीय औसत चीनी, जापानी या यूरोपियन के बरक्स कहां खड़ा है, यह क्यों नहीं पूछते? महापुरुषों के भरोसे कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय पहचान कायम रख सकता है क्या? लगता है, इतिहास विधाता की यही इच्छा है कि अब हम अपने ही बूते खड़ा होना सीखें। अपना सामान्य सामूहिक चरित्र ही चमकाकर, उन्नत करके दिखाएं।

यों यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य माना जा सकता है कि समकालीन राजनीति में ही नहीं, शिक्षा, प्रशासन और संस्कृति के क्षेत्रों में अस्तरीय लोगों का बढ़ता वर्चस्व हमारे भ्रष्टाचार-लिप्त चरित्र की पुष्टि करता जान पड़ता है। अक्सर लगता है—हम किस भारतीय संस्कृति की बात कर रहे हैं? सत्य, तप, आवर्ती काल, अहिंसा, करुणा, आंतरिक स्वाधीनता, सहिष्णुता जैसे मूल्य जो हजारों वर्ष इस देश की रीढ़ बने रहे, वे आज हमारे आचरण में कहां प्रभावी हैं? स्थिति हर तरफ विपरीत जान पड़ती है। धर्म, जो हमारे लोक-जीवन का नियामक रहा, अध्यात्म, जिसने हमें अद्भुत-अतुलनीय आंतरिक खुलापन दिया और घोर पराधीनता के लंबे दौर में भी—आत्मविस्मृति और रूढ़िग्रस्तता की दलदल के बीचोंबीच भी हमें अपनी पहचान खोने से, आत्महीनता से बचाए रखा, वेह धर्म और अध्यात्म स्वयं आज हमारे प्रबुद्ध वर्ग—यानी देश को चलाने वाले हमारे भाग्य-विधाता सरीखे प्रतीत होने वाले नेताओं, अफसरों, पूंजीपतियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों में कहीं क्रियाशील दीखता है क्या? हमारे साहित्य में न हमारी आस्था दीखती है, न अनास्था दीखती है, न हमारे भीतर जो आध्यात्मिक सूनापन और उजाड़ घर करता जा रहा है, उसी का संताप, यहां तक कि चेतना तक दीखती है। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, यह चिंता भी नहीं दीखती। शिक्षकों तथा

कवि-चिंतक और कथाकार प्रो. रमेशचंद्र शाह (1937) अंग्रेजी साहित्य में कालेज शिक्षक भी रहे हैं। अनेक पुस्तकों के लेखक व पुरस्कारों से सम्मानित श्री रमेशचंद्र शाह इन दिनों भोपाल में निराला सृजन पीठ के अधिपति हैं।

साहित्यिक, कलात्मक-वैज्ञानिक बुद्धिजीवियों का आचरण भी जनसाधारण के लिए प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक नहीं प्रतीत होता। उल्टे, लगता है, मूल्य-मूढ़ता या कहें मूल्य-विपर्यय का संक्रामक तो उन्हीं को सबसे ज्यादा व्याप रहा है। दहशत होती है देखकर कि हमारा अधिसंख्य बुद्धिजीवी वर्ग—हमारा प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, यहां तक कि लेखक तक सामाजिक संवेदना से इतना शून्य, अपने व्यवसाय जीवनकर्म के न्यूनतम मानदंडों से भी इतना नीचे, तथा नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टि से इतना दरिद्र हो सकता है।

निश्चय ही ये लक्षण अच्छे नहीं हैं। इतना प्रलोभनीय, इतना बध्य भारत का पढ़ा-लिखा, नौकरीपेशा या व्यापारी वर्ग हो सकता है, इसकी कल्पना आज से सौ या पचास साल पहले सचमुच नहीं की जा सकती थी। याद आता है, महात्मा गांधी ने चालीस के दशक में कभी अपनी 'हिमालयी भूल' स्वीकार करते हुए कहा था कि उन्होंने जो अपने लोगों की क्षमता को बहुत ऊंचा करके आंका, उन्हें अहिंसा और सत्य के उच्चतम मानदंडों पर खरा उतरने लायक चरित्र का धनी समझा—वह उनकी बड़ी भारी गलती थी, भ्रांति थी। किंतु, गहरे जाने पर एक बात समझ में आती है और वह यह कि जहां यथार्थ के स्तर पर, मानव-स्वभाव की कमजोरियों के यथातथ्य आकलन के स्तर पर उनका यह सोचना और अपने किए-धरे का इस तरह पुनर्मूल्यांकन अपने ही खिलाफ जाते हुए करना बिल्कुल सही था, वहीं भारत के समूचे इतिहास को देखने से यह बात भी सामने आती है कि यह गलती तो उन तमाम ऋषियों-मुनियों ने (भी) की थी जिन्होंने भारतीय संस्कृति को गढ़ा है, उसके अब तक भी जीवित रहे आए स्वरूप को संभव बनाने का अपूर्व, अभूतपूर्व चमत्कार किया है। औसत मनुष्य की क्षमता को ध्यान में रखकर कोई संस्कृति नहीं चलती। विश्व की सभी बड़ी सभ्यताएं, मनुष्य से बहुत अधिक की उम्मीद लगाकर ही अपना चक्र चलाती हैं। सभी संस्कृतियों की चालक शक्ति ऊंचे आदर्शों में निहित होती है।

यूनानियों ने ज्ञान को सबसे बड़ा मूल्य माना। मनुष्य के 'रीजन' को सर्वोपरि रखा। उनके दार्शनिक प्लेटो की कई बातें भारतवासियों के मन की हैं। कुछ आदर्श प्रारूप ऊपर हैं—यह जगत जिनका आभास या छाया है, यह वह कहता है। किंतु प्लेटो तक यह ज्ञान आत्मलक्षी है—वह वस्तु-जगत तक, यानी इंद्रियगोचर संसार तक सीमित नहीं होता। प्लेटो के बाद पश्चिम के 'रीजन' की दिशा, ज्ञान के प्रयोजन की दिशा बदल जाती है। नतीजा यह होता है कि ज्ञान का विभाजन-विखंडन हो जाता है दो-टूक। या यूं कहें, धर्म और ज्ञान के बीच दरार या फूट पड़ जाती है। ज्ञान अब अपनी समग्रता से हटकर आत्मज्ञान के मूल लक्ष्य से विचलित और विपथगामी होकर विज्ञान यानी साइंस बनने की दिशा में अग्रसर और विकसित होने लगता है। कुछ इस तरह, कि आज यह कहना ज्यादातर लोगों को वाहियात लग सकता है, पर तथ्य यही है कि ज्ञान की इस तरह की परिणति—संसारधर्मी, संसारोन्मुख, संसारलक्षी परिणति—आखिरकार अणुबम में ही होनी थी और हुई। इसी तरह ज्ञान की जो आत्मज्ञान वाली दिशा थी, अपने को जानने, 'मैं कौन हूं' वाली दिशा—जीवन में सनातन की खोज, वह रीजन से बिछुड़कर, रीजन से विपरीत जाने की अंदरूनी लाचारी के तहत एकेश्वरवादी धर्म यानी 'डॉग्मैटिक रेलीजन' की दिशा में बढ़ी। यह सच है कि बाद में इस रीजन-विरोधी धर्म को अपने को बुद्धिसम्मत बताने, बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए यूनानी दर्शन का सहारा लेना पड़ा—ज्यादातर अरस्तू और किसी हद तक प्लेटो का भी पल्ला थामना पड़ा। पर उस मूल विचलन और आत्म-विभाजन के दुश्चक्र को शायद इस तरह पलटा नहीं जा सकता था। 'रीजन' और 'रेलीजन' के बीच मनुष्य का समग्र भावबोध बंट जाए, खंडित हो जाए, यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहलाएगा।

इसमें शक नहीं कि इस स्थिति का फायदा भी पश्चिमी संस्कृति—यानी एक भीतर से आत्म-विभाजित संस्कृति को मिला। पूरी तरह वस्तुमुखी हो जाने के बाद आदमी का रीजन तेजी से वस्तु-जगत को, वातावरण को, दुनिया के सारे विषयों को खोलता, समझता, अपने नियंत्रण में लाता गया। 'प्रकृति को वशीभूत करो'— यह तर्क फलीभूत हुआ। आविष्कारों की बाढ़ आ गई। तो, इसी तरह मोनोलिथिक धर्म संगठन की थियोलॉजी भी खूब पनपी। जल्द ही इन दोनों के बीच टकराहट हुई जो कि होनी ही थी। आखिर वह मूल अंतर्विरोध, मूल आत्म-विभाजन कभी न कभी तो प्रकट होता ही। तो आप देखते हैं कि मध्ययुग में वही धर्म भयानक ज्ञान-विरोधी बन जाता है। चर्च की सत्ता ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों को जिंदा जला देती है, गैलीलियो को अपनी खोज के सच को ही वापस लेना और नकारना पड़ता है। यानी विडंबना देखिए कि एक ही जड़ से उत्पन्न एक ही मानव-समूह की दो उपलब्धियां—धर्म और विज्ञान एक दूसरे की जानी-दुश्मन हो जाती हैं। क्यों? खुद धर्म भी ऐसा छुई-मुई, असहिष्णु, तानाशाह बन जाता है कि जिसने उसके केंद्रीय डॉग्मा से जरा भी छेड़छाड़ की; खुद स्वाधीन ढंग से सोचने, प्रश्न उठाने का साहस किया कि उसे भी 'हेरेटिक' कहकर चिता पर चढ़ा दिया गया। तब वहां धर्म की सत्ता, राज्य की सत्ता जैसी

मजबूत ताकतवर थी तो, साइंस की—साइंटिस्ट, तर्कवादी, प्रयोगवादी ज्ञानवृत्ति को सदियों उससे जूझते हुए ही अपना रास्ता निकालना पड़ा। अंत में बुद्धि और तर्क की ही विजय हुई। पहले पुनर्जागरण, फिर रिफॉर्मेशन, फिर एनलाइटनमेंट, फिर रोमांटिक आंदोलन, फिर औद्योगिक क्रांति, फिर ईसाई चर्च पर बढ़ता अविश्वास, अंत में 'ईश्वर मर चुका है' की घोषणा, मार्क्सवाद-पूंजीवाद, फिर मार्क्सवादी चर्च का पतन, फिर यह सूचना-क्रांति और ग्लोबल मार्केट इत्यादि। धर्म की सत्ता—यानी पश्चिम के पुराने आत्म-विभाजित विकास का यह दूसरा पहलू—आज भीतर से ध्वस्त है; पर बाहर से किसी तरह अपने को मृत संजीवनी पिलाने की कोशिश कर रहा है।

यह है किस्सा उस यूरोपीय मानव-केंद्रित सभ्यता का जिसके नए संस्करण (अमरीकी चौधराहट) की चपेट में आज समूचा विश्व है और इसलिए भारत भी। आप पूछ रहे हैं कि इस चक्रवात में भारत की भारतीयता कहां है और क्या कर रही है? कहीं है भी कि नहीं? रहेगी भी, कि नहीं? कहीं विस्थापित तो नहीं हो चुकी पूरी तरह पश्चिमी बाजारवाद और उपभोक्तावाद से? क्या उसकी नियति भी अंततः सुपर कंप्यूटरीकरण और 'क्लोन'-करण ही नहीं है?

पहली प्रतिक्रिया, जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की होगी—हालात देखते हुए, वह यही होगी कि हां, भारत अब पूरी तरह से इस विश्वव्यापी प्रवृत्ति की चपेट में आ चुका है और अब आगे उतार ही उतार है, गिरावट ही गिरावट है। भारतीयता चौपट हो रही है। वह सिर्फ निर्यात की एक छोटी-सी कमोडिटी भर रह गई है। आयात तो भोगवादी, होड़वादी, यांत्रिक भौतिकवादी मूल्यों का ही बढ़ता जा रहा है। नई पीढ़ी पूरी तरह इस बाढ़ में बह रही है, पुरानी पीढ़ी भी कुछ कम लालची-पापी नहीं थी। कुल मिलाकर दृश्य निराशाजनक है।

किंतु ठंडे दिमाग से सोचने पर तथा ठंडे दिमाग वाले दूसरे जिम्मेदार बौद्धिकों की राय सुनकर, अपने लोगों के जीवन की असलियत पर तथा भारत के लंबे इतिहास पर आंख गड़ाकर देखने पर तस्वीर इतनी काली नहीं दीखती। 'हिंदुस्तानी महासागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उसमें जो लोग गंदे हो गए हैं, उन्हीं को साफ होना है।' यह 'हिंद स्वराज' के गांधी ने इस सदी की शुरुआत में कहा था। अब शायद हम ऐसा दावा करने की हालत में नहीं हैं। गांव-गांव तक भिद चुकी हमारी भयानक भ्रष्ट राजनीति ने हमारी जनता के उन पारंपरिक गुणों को काफी हद तक दबा दिया है। फिर भी, देखा जाए तो वे पूरी तरह नष्ट नहीं हुए हैं। उनमें मूल्य-विवेक बचा है। उनमें भारतीय परंपरा का लोक-शास्त्र समन्वित रूप आज भी जीवित है जैसे-तैसे। बुद्धिजीवियों ने उनके साथ, अपने ही लोगों के साथ विश्वासघात किया है जरूर। परंतु अब उनमें भी एक स्तर पर पश्चाताप और आत्मपरीक्षण के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। राजनीतिक स्तर पर भी हमारा लोकमन बदल रहा है।

जहां तक इस अराजक, मूल्यहीन आपाधापी का सवाल है, कुछ हद तक वह स्वाभाविक अनिवार्य था। संस्कृति को बचाने के चक्कर में—अपनी भयानक गुलामी की सदियों के दौरान हमारी संस्कृति के रक्षक वर्ग ने—जिसकी रचनात्मक कुव्वत पस्त हो चुकी थी—तरह-तरह की बाड़ें बनाकर, अपनी सुरक्षा करनी चाही। एक बहुत बड़ा हिस्सा आबादी का अवहेलना का शिकार होकर दरिद्र होता गया— दलित अवहेलित रहा। छुआछूत और जातिप्रथा की अमानवीय परिस्थितियों ने उसका आत्म-सम्मान भी क्षत-विक्षत कर दिया। यह बहुत बड़ी कीमत अपने बचे रहने की हमने चुकाई। उधर जो जीवनवादी-आनंदवादी मूल वैदिक धारा हमारे शास्त्र में ही नहीं, लोक विश्वासों में जीवित थी—वह भी संन्यास, निवृत्ति और मोक्ष की तरफ झुक गई। भक्ति ने जहां हमें जबर्दस्त सहारा दिया, वहीं हमें और हमारे दिमागों को पिलपिला भी बना दिया। ज्ञान, भक्ति और कर्म का संबंध हमारे यहां भी गड़बड़ हुआ। क्या बाहर, क्या भीतर से भी हमारा जीवन-दर्शन स्वस्थ-संतुलित न रहकर एकांगी और दुखवादी, परलोकवादी बन गया। यह स्वयं अपने आपमें भारतीय संस्कृति के सामाजिक-राजनीतिक पराभव और गुलामी का कारण रहा। यही कारण है कि बीसवीं सदी के आरंभ में श्री अरविंद सरीखे द्रष्टा, विचारक और नेता को कहना पड़ा कि जिस तरह पश्चिम के इतिहास ने उसे भौतिकवादी नकार में ला पटका है, उसी तरह भारत के इतिहास ने हमें इसके उल्टे अतिवाद में झोंक दिया—जिसे उन्होंने संन्यासमूलक जीवनद्रोह कहा। और, बिल्कुल ठीक कहा। अरविंद का जीवन और जीवनकार्य इस सदी के भारत की सबसे दूरगामी महत्त्व की घटना है। वे मनुष्य की प्रगति को, वैज्ञानिक आविष्कारों को, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को बिल्कुल नहीं नकारते। उसे कुल मानवीय उपलब्धि का मूल्यवान अंग मानते हैं, मनुष्य के आध्यात्मिक रूपांतरण का भी अनिवार्य अंग मानते हैं। किंतु साथ में यह भी देखते-दिखाते हैं कि मनुष्य के सर्वोच्च पुरुषार्थ और जीवन की सर्वोच्च चरितार्थता का सपना इसी भारत ने अपनी संस्कृति के प्रारंभिक बिंदु पर ही देख लिया था और वह समूची मानवता के लिए देखा था—किसी एक कबीले या मुल्क या

नस्ल के लिए नहीं। सदियों से उत्पीड़ित विराट् जनसमुदाय की दबी हुई भावनाओं का विस्फोट होना ही था। खेद और दुर्भाग्य की बात यह है कि जो भी विकास हुआ है, उसका लाभ निम्नतम स्तरों पर जीने वाले लोगों तक नहीं पहुंचता। बीच के लोग ही उनका हिस्सा लूटते हैं। उत्पादन बढ़ा, पर वितरण न्याय संगत नहीं हो सका।

भारतीय संस्कृति मनुष्य पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी डाल देती है। मनुष्य नामक जीव से हद दर्जे की ऊंची अपेक्षा करती है। आज हमारा सामूहिक चरित्र उसके निर्वाह में अक्षम प्रतीत होता है। लेख की शुरुआत में हमने यही कहा था कि यूं तो संस्कृतिमात्र मनुष्य से बहुत ऊंची अपेक्षा करके ही बनती है और ऊंचे आदर्श ही अपने सामने रखती है। किंतु संस्कृतियों का इतिहास देखते हुए साफ प्रतीत होता है कि भारत जितना ऊंचा लक्ष्य मनुष्य के लिए किसी और संस्कृति ने नहीं रखा। यह अभिजात संस्कृति है जो लोक-संस्कृति का उदात्तीकरण करती आई है। इसमें जीवन की—समूचे चराचर जगत की पावनता का विचार छुपा हुआ है। मनुष्य को अमृत-पुत्र बताना और चराचर में दिव्यता को ओत-प्रोत देखना इसी संस्कृति का मौलिक आग्रह रहा। इसी से जीवन को भी, भोग को भी पुरुषार्थ ही माना गया, किंतु विषयासक्ति के चक्कर में आत्मविस्मृत न हो जाएं—यह चौकसी रखी गई और धर्म से अविरुद्ध 'काम' को ही स्वीकार किया गया—कामनाओं के पीछे भागने को नहीं। धर्म की ऐसी व्यापक, गहरी संकल्पना और कहीं नहीं की गई। मानव की भोग-वृत्ति को भी धर्म की मर्यादा में अकुंठ स्वीकृति दी गई। तो इसमें जीवन के तिरस्कार या इच्छाओं के दमन या जीवन को पापमूलक मानकर आत्मपीड़न का प्रश्न ही नहीं उठता जैसा कि ईसाइयत के इतिहास में साफ देखा जा सकता है। वहां पर स्पष्ट अंतर्विरोध है; एक ही संस्कृति की दो भुजाएं इस कदर विपरीत हैं कि एक तरफ असीमित तर्कवाद-बुद्धिवाद है, तो दूसरी तरफ घोर मतवादी कट्टरता। एक तरफ मठ-संन्यास का भयंकर आत्मपीड़न और बंदिशें, दूसरी तरफ संदेह-वृत्ति को चरम महत्त्व देते हुए विषय-लालसा और प्रकृति-विजय की लालसा को उसकी चरम परिणति तक पहुंचा देना।

भारत में यह अंतर्विरोध नहीं प्रकट हुआ तो इसका कारण इस संस्कृति की आध्यात्मिकता ही है। आध्यात्मिक मूल्य अनुभवजन्य, सार्वभौम और चराचर समस्त जीवन को समाविष्ट करने वाले होते हैं। उनमें धर्म और दर्शन के बीच वह अनिष्टकारी विच्छेद पैदा होने की गुंजाइश ही नहीं रहती, जिसे हमने ऊपर पाश्चात्य संस्कृति के संदर्भ में पहचाना था। ऐसी संस्कृति लौकिक की उपेक्षा न करते हुए अलौकिक से मनुष्य को सीधे जोड़ती है और प्रकृति के तथा पृथ्वी के अन्य मानव-समूहों के शोषण के दुश्चक्र एवं साम्राज्यवादी लिप्सा से भी बची रहती है। सत्य और आनृशंस्य (अर्थात् अहिंसा) इसमें अपने अन्य सर्वोच्च जीवन-मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। आधुनिक यूरोप की ऐंद्रियभोगमूलक संस्कृति के प्रभाव में इस वक्त भारत बहता प्रतीत होता है। दबाया गया जीवन अपना बदला लेगा ही। ऐसे में आदर्शवाद मिथ्या और यथार्थवाद ही सत्य लगने लगे तो ऐसा लगना लाजिमी है।

यह इतना ऊंचा आदर्श है कि जब तक एक पूरा वर्ग त्याग और संयम और परंपरानिष्ठा का अति कठिन जीवन जीने को प्रस्तुत न हो और इस तरह ऋषि-मुनियों के आदर्श का कुछ 'नमूना' प्रस्तुत करने को तैयार न हो, यह संस्कृति साक्षात् जीवन-व्यवस्था में जीवित नहीं रह सकती। यह काम हमारे यहां समय-समय पर अवतरित हुए संतों-महापुरुषों के अलावा एक अपेक्षाकृत पार्थिव स्तर पर ब्राह्मणवर्ग ने तथा मुनियों ने किया। उन पर वह जिम्मेदारी आई जो बुद्धिजीवी वर्ग (इंटैलिजेंसिया) की यूरोप में है बल्कि उससे कहीं कठिनतर जिम्मेदारी। हजारों साल पहले इसने अपनी जिम्मेदारी निभाई भी। फिर इसमें ह्रास हुआ। उस ह्रास-युग में भी इसने किसी सीमा तक धर्म को, जीवन पद्धति में उसकी घुलावट को बचाए रखा। शास्त्र को लोक से जोड़े रखा। किंतु समाज कमजोर होता गया। जाति-व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म के आदर्श से विच्छिन्न होकर अपने ही मकड़जाल में फंस गई और आक्रांताओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकी। इस पराजय के गर्त में स्वाधीन जिज्ञासा कुंठित हो गई, ज्ञान की खोज की सामर्थ्य ही छीज गई और सृजन के बजाय महज संरक्षण से काम चलाने की लाचारी पैदा हुई। जीवन दरिद्र होता गया—वैराग्य और इहलोक के तिरस्कार की वृत्ति प्रबल हुई। अब जीवन का देवता अपनी उपेक्षा का बदला चुका रहा है—ऐसा लगता है।

भारत इसी स्थिति में था कि अंग्रेजी राज आया। यह एक नए किस्म का आक्रांता था। अधिक ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, किंतु अधिक प्रच्छन्न आततायी। इससे टकराने पर भारत की जातीय स्मृति का पुनरुद्रेक हुआ। हम देख रहे हैं कि इस यूरोपीय शिक्षा को, राजनीतिक विचारों को, विज्ञान को हिंदुस्तानियों ने स्वायत्त किया। नए से नए साइंस और तकनीकी को इस भारतीय दिमाग ने पचा लिया है। उस तरह प्रगति खूब हुई है—आधुनिकीकरण भी हुआ है। कई

विचारक मानते हैं कि भारत में आधुनिकता परंपरा के साथ चल सकती है और चल रही है। वी.एस. नायपाल सरीखे भारत-निंदक भी अब भारत के बारे में अपनी राय बदल चुके हैं। उन्हें लगता है कि भारत ने आखिरकार यूरोप की प्रगति का सबक सीख लिया है और उसका तेजी से कायाकल्प हो रहा है; उसका भविष्य उज्ज्वल है। तकनीकी प्रगति को स्वायत्त करने में कोई बुराई नहीं है। पहले भी भारत ने कैसे-कैसे दुर्दिन देखे! इस धक्के को भी वह पचा लेगा, ऐसा उसे लगता है।

देखना यही है कि कहीं यह प्रगति हमारे पारिवारिक सांस्कृतिक विवेक की संस्कृति की कीमत चुकाकर तो नहीं हो रही है? लक्षण वैसे ही दिख रहे हैं। मगर जब हम श्री अरविंद सरीखे द्रष्टाओं को याद करते हैं तो लगता है, भारत नष्ट होने के लिए नहीं बना है। इतना तो भारत-विभाजन की थ्योरी गढ़ने वाले इकबाल तक को दीख गया था कि 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी', मगर वह बात क्या है, यह इकबाल की समझ से बाहर रहा होगा। वह बात गांधी और अरविंद ने समझी और पूरी दुनिया को समझाई है। इंग्लैंड की वरिष्ठतम कवयित्री कैथलीन रेन ने मुझे अपने एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था—'भारत बचेगा तो दुनिया भी बचेगी, विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जिसकी संस्कृति सही मायनों में विश्वात्मक-विश्वजनीन है। भारत की पावनतामूलक दृष्टि विश्व-मानवता की एकमात्र आशा है। उसकी लौ को बुझने से बचाओ।'

मैं समझता हूं, सारे दुर्लक्षणों के बावजूद भारतीयता के बचे रहने की आशा निराकार नहीं है। किंतु यह एक हवाई आदर्शवादी खामखयाली कहलाएगी—यदि हम समकालीन भारतीय आचरण के यथार्थ से आंखें मूंदकर यह बात करें। हमें इस वास्तविकता का सामना करना होगा कि जो भी आदर्श, जो भी मूल्य भारतीय संस्कृति को उसकी विशिष्टता में परिभाषित करते रहे हैं उनमें से प्रत्येक का ठीक उलटा आज हम अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। मैंने इस लेख में आदर्श और यथार्थ की घिसी-पिटी बात यूं ही नहीं उठाई थी। यह नहीं कि हमारे पुरखों को मानव-स्वभाव का यथार्थपरक ज्ञान नहीं था, या कि वे एक असंभव आदर्श के हठ में सारी जटिलताओं को घुला देने के आदी थे। ऐसा कदापि नहीं है। जिस तरह मनुष्य की नीचता और मनुष्य की दुखात्मकता का पूरा अहसास उनके सिर पर चढ़कर बोलता था—हमारे महाकाव्य साक्षी हैं इस बात के, कि जिस ट्रैजिक सेंस के अभाव का आरोप हम पर लगाया जाता रहा है, वह आरोप सर्वथा असंगत और हास्यास्पद जान पड़ता है—महाभारत रचने वालों के लिए। किंतु यह तथ्य है कि उन्होंने ट्रेजेडी को उस तरह मान्य नहीं किया। क्यों नहीं किया, यह गहरे विचार का विषय है—उसमें यहां नहीं जाऊंगा। इसी तरह जिसे 'ईविल' कहा जाता है, जिसे मूर्त करने के लिए पश्चिमी संस्कृति या धर्म को शैतान की परिकल्पना, ईश्वर की परिकल्पना के साथ ही कर लेनी पड़ी—उसकी जानकारी भारतीयों को नहीं थी—यह कौन कहेगा? शायद ही पृथ्वी के किसी अन्य देश ने अपने लंबे इतिहास में इतनी विभीषिका, इतना नरसंहार, इतना आक्रमण-दमन, हत्या, अकारण द्रोह और त्रास भुगता हो, जितना भारत और भारत की सभ्यता ने। फिर भी, यदि हमने देवासुर-संग्राम के रूपक से मानवीय स्थिति को परिभाषित किया, दैवी-आसुरी सम्पद की ही बात की और असुर की ऊर्जा को ही नहीं, उसकी मुक्ति-पात्रता तक को स्वीकार किया तो यह अत्यंत ऊंची आध्यात्मिक ज्ञान-दृष्टि के कारण से ही संभव हुआ। अब, स्पष्ट ही ऐसे आदर्श के धरातल पर जी सकने वाले, उसे समझ सकने वाले लोग किसी भी युग में कम ही होंगे। अब यदि वे अत्यल्प हैं, या कहीं नहीं दीखते तो यह भी सकारण है। एक हजार साल की मोहनिद्रा से पूर्ण जागृति में पहुंच जाना आसान नहीं होता।

आज हम पाते हैं कि अनासक्ति-अपरिग्रह को सर्वोच्च मूल्य की तरह खोजने-बरतने वाले भारत के समकालीन नागरिक सबसे ज्यादा भयंकर आसक्ति के शिकार हैं। पुत्र-मोह, सम्पत्ति-मोह, कीर्ति-मोह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गए दीखते हैं। शायद उच्चतम आदर्श से निम्नतम यथार्थ तक पैंडुलम पहुंचेगा तभी संतुलन पैदा होगा, ऐसा लगने लगता है। इसी तरह आत्मा, आत्मान्वेषण जिस जाति के लिए मनुष्य का सबसे पहला और आखिरी सरोकार रहा हो, उसके प्रतिष्ठित सदस्यों को हम भयानक आत्मरति में लिथड़े देखते हैं। दूर क्यों जाऊं—साहित्य जैसे पवित्र क्षेत्र में मुझे दहशत होती है—जाने-माने साहित्यकारों से मिलकर—जब देखता हूं उन्हें अपने अलावा किसी में रस नहीं। उनकी यशोलिप्सा मन में जुगुप्सा जगाती है। अनासक्ति न उनके विचारों में नजर आती है, न जीवन में। इसी तरह सत्य और अहिंसा की जगह उनमें झूठ बोलने, अपने ही समानधर्माओं का चरित्र-हनन करने की लाइलाज कुटेव पड़ी दीखती है और वे इस अनाचार को ढकने और बुद्धिसम्मत ठहराने के लिए 'अपना मोर्चा' और 'रणनीति' जैसी मूल्य-निरपेक्ष लफ्फाजी का सहारा लेते हैं। 'अस्तेय'

शेष पृष्ठ 33 पर

मंत्र विकल्प से निर्विकल्प तक पहुंचने की प्रक्रिया है। सविचार से निर्विचार तक पहुंचने की पद्धति है। जहां शब्द, ध्वनि और संकल्पशक्ति तीनों का योग होता है, वहां मंत्र की शक्ति जागृत हो जाती है। मंत्र का साक्षात्कार हो जाता है। ●

◆ समणी मंगलप्रज्ञा

मंत्र-विचारणा

भारतीय परंपरा में मंत्र-विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन आदि प्रायः सभी विचारधाराओं में मंत्र-शास्त्रों का प्रणयन हुआ है। वैदिक परंपरा में यह माना जाता है कि प्राचीन ऋषियों ने तत्त्व-दर्शन के अभ्यासक्रम के प्रसंग में ब्रह्मा से वेद-विद्या उपलब्ध की थी। ऋषियों के एक अन्य समूह ने विष्णु को प्रसन्न कर उनसे भक्ति-विद्या प्राप्त की थी तथा एक अन्य समूह ने शिव को प्रसन्न कर उनसे मंत्र-विद्या प्राप्त की थी और उसी परंपरा से वह मंत्र-विद्या वर्तमान तक प्रचलित है। जैन परंपरा के चौदह पूर्वों में एक विद्यानुप्रवाद नाम का पूर्व था। उसमें मंत्र-विद्या का सांगोपांग वर्णन था। काल प्रवाह में वह ज्ञानराशि विलुप्त हो गई किंतु उसके अवशेष के रूप में आज भी जैन परंपरा में मंत्र-विद्या का अस्तित्व है तथा मंत्रों के विशिष्ट प्रकार के प्रयोग उपलब्ध हैं। बौद्ध परंपरा में भी मंत्र-तंत्र विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वज्रयान बौद्ध परंपरा का तो मूल आधार ही मंत्र-तंत्र विद्या है। वर्तमान में भी इन सभी परंपराओं में मंत्र के प्रयोग प्रचलित हैं।

मंत्र की परिभाषा

वर्णमाला के वर्णों की विशिष्ट प्रकार की संरचना मंत्र कहलाती है। निरुक्तकार यास्क ने 'मंत्रा मननात्' कहकर मंत्र शब्द का निरुक्त किया। जो शब्द, पद अथवा वाक्य पुनः पुनः मनन करने के योग्य होते हैं उन्हें मंत्र कहा जाता है। मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से उपलब्ध होती है। 'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मंत्रः' जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् निजानुभव का बोध प्राप्त हो, उसे मंत्र कहते हैं। सम्मानवाचक 'मन्' धातु से 'त्र' प्रत्यय लगाने पर भी मंत्र शब्द निष्पन्न होता है— 'मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिता आत्मानः यक्षादिशासनदेवता वा अनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा परमपद में स्थित आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जाए, वह मंत्र है। मंत्र व्याकरण के अनुसार मंत्रवेत्ता जिसका गुप्त रूप से संभाषण करते हैं, वह मंत्र है 'मन्त्रयन्ते गुप्तं भाष्यन्ते मन्त्रविद्भिरित मंत्राः'। पञ्चकल्प भाष्य में कहा गया कि जो पठित सिद्ध हो वह मंत्र है—'मंतो पुण होइ पठियसिद्धो।' पञ्चाशक की टीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा है कि—'मन्त्रो देवाधिष्ठितोऽसावक्षररचनाविशेषः' अर्थात् देवता से अधिष्ठित अक्षर रचना विशेष मंत्र कहलाती है। जिसके आदि में ओम् और अंत में स्वाहा पद होता है तथा जो ह्रीं आदि वर्ण विन्यास रूप होता है, उसे मंत्र कहते हैं 'मंत्र ओंकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रींकारादिवर्णविन्यासात्मकः' (उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति)। इन सभी परिभाषाओं का समासीकरण करने से फलित होता है कि विशेष प्रकार की शब्द संरचना, जो विशेष प्रयोजन के लिए हुई है उसे मंत्र कहा जाता है।

मंत्राक्षर संयोजना

मंत्र साहित्य में अक्षर संयोजना पर विशेष ध्यान केंद्रित किया जाता है। मंत्रों में शब्द संयोजना के वैशिष्ट्य से ही सामर्थ्य उद्भूत होती है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर स्वयं न शुभ होता है और न ही अशुभ होता है किंतु उसमें शुभता एवं अशुभता विरोधी एवं अविरोधी वर्णों के योग से आती है। बीजाक्षरों में उपकारक एवं दग्धाक्षरों में घातक शक्ति निहित होती है। सब अक्षरों में मंत्र बनने का सामर्थ्य है किंतु उनका उचित संयोजन करने वाला मंत्रवेत्ता दुर्लभ होता है—

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्तिमूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभम्।।

मातृका वर्ण

मंत्रों का उत्पत्ति स्थान वर्णमाला ही है। अकार से लेकर क्षकारपर्यंत वर्ण मातृका वर्ण कहलाते हैं। इन मातृका

वर्णों का सृष्टि, स्थिति एवं संहार रूप से तीन प्रकार का न्यास होता है।

अकारादिक्षकारान्ता वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृकाः।
सृष्टि-न्यास-स्थिति-न्यास-संहृतिन्यासतस्त्रिधा।।

जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ (376)

ककार से लेकर हकारपर्यंत व्यंजन बीजसंज्ञक हैं और अकार आदि स्वर शक्ति रूप हैं। मंत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है। सारस्वत बीज, माया बीज, पृथ्वी बीज, अग्नि बीज, प्रणव बीज, मारुत बीज, जल बीज, आकाश बीज आदि की उत्पत्ति व्यंजन एवं स्वर के संयोग से ही हुई है।

मंत्र एवं विद्या

जैन परंपरा में मंत्र और विद्या इन दो शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है तथा दोनों की परस्पर भिन्नता का उल्लेख भी मिलता है। जिस मंत्र में स्त्री देवता अधिष्ठात्री हो, वह विद्या है तथा जिसमें पुरुष देवता अधिष्ठाता हो वह मंत्र है अथवा जिसे विशेष प्रकार की साधना के द्वारा साधा जाए वह विद्या और जो बिना साधे ही पठित सिद्ध हो वह मंत्र है।

इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतुत्ति तव्विसेसोयं।
विज्जा ससाहणा वा, साहणरहिओ अ मंतुत्ति।।

आवश्यकनिर्युक्ति गा. (931)

मंत्र के प्रकार

मंत्र-शास्त्र में मंत्रों के विभिन्न भेद किए गए हैं। 'प्रयोगसार' नामक ग्रंथ में बीजमंत्र, मंत्र एवं मालामंत्र के भेद से मंत्रों के तीन प्रकार बताए गए हैं। नौ अक्षर तक के मंत्र बीजमंत्र कहलाते हैं। बीस अक्षर तक के मंत्र कहलाते हैं तथा उनसे अधिक अक्षरों वालों को मालामंत्र कहा जाता है—

'नवाक्षरान्ता ये मन्त्रा बीजमन्त्रा प्रकीर्तिताः'।
पुनर्विंशति वर्णान्ता मन्त्रा मन्त्रास्तथोदिताः।।
ततोऽधिकाक्षरमंत्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः।।

मंत्र-व्याकरण में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग एवं नपुंसक के भेद से मंत्र के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं। जिन मंत्रों के अंत में 'स्वाहा' पद का प्रयोग होता है वे स्त्रीलिंग मंत्र, जिन मंत्रों के अंत में हूं, वषट्, फट्, धे तथा स्वधा आदि पदों का प्रयोग होता है वे पुल्लिंगी मंत्र एवं जिनके अंत में 'नमः' पद का प्रयोग किया जाता है वे नपुंसक मंत्र कहलाते हैं—

'स्त्री-पुं-नपुंसकत्वेन, मन्त्रास्ते त्रिविधा मताः।
स्वाहा शब्दावसानाः स्युर्ये मन्त्रास्तान् विदुस्स्त्रियः।।
पुंमांसो हुं वषट्-फट्-धे-स्वधाप्रभृतिपल्लवाः।
ते नपुंसकलिंगा स्युर्येषामन्ते नमः पदम्।।'

आग्नेय एवं सौम्य इन दो प्रकार के मंत्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पृथ्वी, अग्नि एवं आकाश मंडल (समूह) वाले मंत्र आग्नेय मंत्र कहलाते हैं तथा जल एवं वायु तत्त्व वाले मंत्र सौम्य कहलाते हैं। जिन सौम्य मंत्रों के अंत में फट् शब्द योजित होता है तो वे आग्नेय मंत्र बन जाते हैं। तथा जिन आग्नेय मंत्रों के अंत में 'नमः' पद जुड़ जाता है तो वे सौम्य मंत्र बन जाते हैं।

आग्नेयाः सौम्या इति, मन्यन्ते ते पुनर्द्विधा मन्त्राः।
पृथ्व्यग्नि-वियत्प्राया ये ते मन्त्राः स्युराग्नेयाः।।
अन्ये सौम्याः सौम्यानेव फडन्तान् वदन्ति चाग्नेयः।
आग्नेयान्तमेव स्यात् सौम्यत्वं नमोऽन्तत्वे।।

बीजमंत्र

जिस मंत्र में बीजाक्षर तथा अन्य अक्षर होते हैं किंतु मंत्र देवता का नाम नहीं होता वह बीजमंत्र कहलाता है। जैसे—'ओं ऐं ओं' यह बीजमंत्र है।

'ओम्' बीजमंत्र भारत की प्रायः सभी परंपराओं में मान्य रहा है। प्रणव को योगशास्त्र में ईश्वर का वाचक कहा है। बीजमंत्रों में इसको प्रथम स्थान प्राप्त है। मंत्र संयोजना में प्रायः मंत्रों में ओम् का सन्निवेश किया जाता है। मंत्र व्याकरण में 'ओम्' बीज तेज, भक्ति, विनय, प्रणव, ब्रह्म, प्रदीप, वाम, वेद, कमल, अग्नि, ध्रुव, आकाश आदि संज्ञाओं के नाम से प्रसिद्ध है।

तेजो भक्तिर्विनयः प्रणव ब्रह्मप्रदीपवामाश्च।
वेदोऽब्जदहनध्रुवमादिद्युर्भिरोमिति स्यात्।।

'ह्रीं' बीजमंत्र को माया तत्त्व, शक्ति, लोकेश, त्रिमूर्ति एवं बीजेश के रूप में ख्याति प्राप्त है। यह बहुत शक्तिशाली मंत्र है। ह्रींकार माया बीज अर्थात् शक्ति का बीज है।

ह्रीं का वैशिष्ट्य इसी से परिलक्षित होता है कि इस पर ह्रींकारकल्प जैसे स्वतंत्र ग्रंथ निर्मित हुए हैं।

मायातत्त्वं शक्ति लोकेशो ह्रीं त्रिमूर्तिर्बीजेशः

ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रैं, ह्रौं एवं ह्रं ये बीज शून्यरूप माने जाते हैं।

'ऐं' वाग्बीज अथवा तत्त्वबीज कहलाता है। 'श्रीं' लक्ष्मीबीज के रूप में विख्यात है। 'क्लीं' अनंगबीज अथवा आकर्षणबीज के रूप में स्वीकृत है।

'अर्हम्' जैन परंपरा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण मंत्र है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों में इसकी विशेष साधना की जाती है। यह वीतरागता-सूचक बीजमंत्र है। इस मंत्र का शरीर पर न्यास किया जाता है। कवच निर्माण प्रक्रिया में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अर्हम्' के जप में प्रचुर रोग-निवारक क्षमता विद्यमान है। 'अर्हं' को ज्ञानबीज एवं जगद्वंद्य कहा गया है। यह मंत्रराज है, इसका ध्यान करना लाभप्रद है—

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं, जन्म-मृत्यु-जरापहम्।
अकारादिहकारान्तं रेफबिन्दुकलाङ्कितम्।
भुक्तिमुक्त्यादिदातारं, स्रवन्तममृताम्बुभिः।
मन्त्रराजमिमं ध्यायेद्, धीमान् विश्वसुखावहम्।।

—तत्त्वार्थसारदीपक

मंत्र सुरक्षा कवच

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में 'मंत्र एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है। मंत्र एक कवच है। मंत्र एक प्रकार की चिकित्सा है।' संसार में रहने वाले व्यक्ति के जीवन में आरोह-अवरोह के प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं, मंत्र विषम परिस्थिति में भी व्यक्ति के मानसिक मनोबल को सुदृढ़ बनाए रखता है। बाह्य दूषित वातावरण से सुरक्षा करता है तथा आभ्यंतर दोष की शुद्धि करता है। प्रतिकूल प्रहारों के आघातों से सुरक्षा प्रदान करता है। मंत्र साधना कवच बनाने की साधना है। आभामंडल को निर्मल बनाने की साधना है।

मंत्र विकल्प से निर्विकल्प तक पहुंचने की प्रक्रिया है। सविचार से निर्विचार तक पहुंचने की पद्धति है। जहां शब्द, ध्वनि और संकल्पशक्ति तीनों का योग होता है, वहां मंत्र की शक्ति जागृत हो जाती है। मंत्र का साक्षात्कार हो जाता है और मंत्र का देवता प्रकट हो जाता है। जब मंत्र जप करने वाले का शब्द ज्योति में बदल जाता है तब मंत्र का साक्षात्कार हो जाता है। मंत्र चैतन्य हो जाता है। मंत्र जब चैतन्य बनता है तब ही वह विशिष्ट शक्ति का संवाहक एवं प्रकट करने वाला बनता है।

मंत्र शब्दात्मक होता है। उसमें अचिंत्यशक्ति होती है। उसके द्वारा आध्यात्मिक उन्नयन होता है। व्यक्ति की चेतना अंतर्मुखी बन जाती है, जो अध्यात्म का मूल लक्ष्य है। ❖

किसी सत्यान्वेषी का एक चरित्र यह होता है कि वह निरंतर विकास करता जाता है, अर्थात् वह सदा बढ़ता रहता है। विनोबा सत्य के आग्रह की बनिस्बत सत्य के साक्षात्कार पर ज्यादा जोर देते थे। सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपना दिमाग और अपना सारा अस्तित्व खोलकर रख देना पड़ता है। मेरे खयाल से नई पीढ़ी के दिमागों में गांधीजी के बारे में गलत धारणाओं का कारण यह है कि वह गांधीजी और उनके अनुयायियों के कट्टर विचारों को पसंद नहीं करती। मौजूदा पीढ़ी गांधीजी को 'महात्मा' मानने को तैयार है, मगर उसे अभी तक यह पता नहीं लगा है कि गांधीजी का दिमाग खुली किताब की तरह था। इस ढंग से सोचने वाले नौजवानों को नीचे लिखा अंश पढ़ने पर अपनी गलती महसूस होगी। गांधीजी ने 'हरिजन' के 24 अप्रेल, 1933 के अंक में लिखा था :

'मेरे लेखों को ध्यान से पढ़ने वालों से और उनमें रुचि रखने वालों से मैं कहना चाहता हूं कि मुझे इस बात की चिंता नहीं कि लोगों को मैं एक ढर्रे पर चलने वाला नजर आऊं। हालांकि उम्र में मैं बूढ़ा हो गया हूं, फिर भी मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरी आत्मा का विकास रुक गया है या शरीरांत होने पर समाप्त हो जाएगा। मुझे तो इस बात से सरोकार है कि मैं हरदम सत्य की, अपने ईश्वर की, पुकार सुनने को तैयार रहूं। इसलिए अगर मेरे किन्हीं दो लेखों में किसी को असंगति दिखाई दे, तो अगर उसे विश्वास हो कि मेरे होश-हवास सही हैं, तो एक विषय से संबंधित दो लेखों में से बाद के लेख को ही मान्यता देनी चाहिए।'

—गुणवंत शाह

अनुभूति

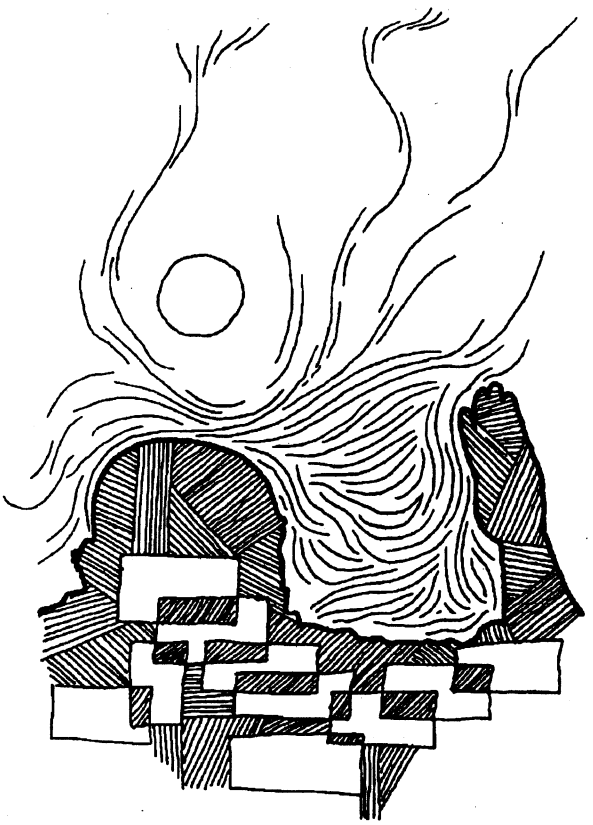

एक शीर्षकहीन कविता

अपने हाथों का तकिया बना लो।
आकाश अपने बादलों का
धरती अपने ढेलों का
और गिरता हुआ पेड़
अपने ही पत्तों का
तकिया बना लेता है।

यही एकमात्र उपाय है
गीत को ग्रहण करने का
निकट से,
उस गीत को जो
पड़ता नहीं कान में
जो रहता है कान में,
एकमात्र गीत जो
दोहराया नहीं जाता।

हर व्यक्ति को चाहिए
एक ऐसा गीत जिसका
अनुवाद असंभव हो।

—रोबेर्तो हुआरेज (स्पहानी कवि)

रूपांतर : कृष्ण बलदेव वैद

जयाचार्य ने इस सचाई पर बहुत बल दिया कि जिसे अनुशासन की प्रतिष्ठा करनी हो, उसे स्वयं अनुशासित होना चाहिए। आदमी कहने से जितना नहीं सीखता उतना व्यवहार और आचरण से सीखता है। बड़े-बूढ़ों का आचरण और व्यवहार यदि अनुशासित होता है तो नई पीढ़ी को अनुशासन की प्रेरणा देने की बहुत आवश्यकता नहीं है; वह उसे स्वयं सीख जाती है। ●

◆ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अनुशासन के मंत्रदाता जयाचार्य

महामात्य कौटिल्य ने राजा के लिए इंद्रियजयी होना आवश्यक बतलाया है। उनका चिंतन था कि यदि शासक इंद्रियजयी नहीं होता है तो वह प्रजा के लिए राहु-केतु बन जाता है। आचार्यश्री तुलसी द्वारा जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी 'अनुशासन वर्ष' के रूप में मनाई गई। अनुशासन वर्ष का घोष दिया—'निज पर शासन, फिर अनुशासन'—पहले अपने मन पर, अपनी इच्छाओं और वृत्तियों पर शासन करो, फिर दूसरों पर अनुशासन करो। पहले वे स्वयं-शासित हुए और फिर अनुशास्ता बने। उनके जीवन का यह सूत्र अध्यात्म का सूत्र बना। वर्तमान में इस सूत्र की बहुत अपेक्षा है।

आज सभी दिशाओं में एक स्वर गूंजता है—अनुशासनहीनता बढ़ रही है, अनैतिकता बढ़ रही है, समाज का क्या होगा? राष्ट्र का क्या होगा? हमें समझना चाहिए कि समस्या का बखान करने से समस्या का समाधान नहीं होता। उसके लिए उपाय खोजना जरूरी है।

जयाचार्यजी आचार्य भिक्षु के भाष्यकार थे। आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि पर बहुत विचार किया था। हिंदुस्तान के दो हजार वर्ष के इतिहास में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने साधन-शुद्धि पर अधिक विचार किया—एक आचार्य भिक्षु और दूसरे महात्मा गांधी। साधन-शुद्धि का सिद्धांत हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत है। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—हृदय को बदले बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। हृदय-परिवर्तन की बात सुनने में बहुत मीठी लगती है। पर क्या हृदय बदल सकता है? मनुष्य के स्वभाव को बदलना सबसे कठिन बात है। इसीलिए यह मान्यता बन गई है कि स्वभाव को नहीं बदला जा सकता। हृदय-परिवर्तन अनुशासन को विकसित करने का एक उपाय है।

हम निरुपाय नहीं हैं, यह प्रसन्नता की बात है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—जैविक रसायनों का परिवर्तन। ये रसायन हमारे व्यवहार और आचरण को नियंत्रित करते हैं। इन्हें बदले बिना अनुशासनहीनता की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। श्वेत अश्वेतों पर आक्रमण कर रहे हैं। असवर्ण जातियों से सवर्ण घृणा कर रहे हैं। कभी जातीयता समस्या बनकर उभरती है, तो कभी सांप्रदायिकता। ये सब अनुशासनहीनता की चिनगारियां हैं, जो समय-समय पर उछलती रहती हैं। पूरा समाज इनकी लपेट में संताप का अनुभव करता है। क्या ये जातीय और सांप्रदायिक उपद्रव अनुशासनहीनता के कारण हो रहे हैं? गहरे चिंतन के बाद इन्हें अनुशासनहीनता का कारण नहीं माना जा सकता। ये सब अनुशासनबद्धता के कारण हो रहे हैं। जाति या नस्ल के नाम पर एक अनुशासन चल रहा है। उससे अनुशासित लोग जातीय उपद्रव कर रहे हैं। संप्रदायों का भी अपना अनुशासन है। इसीलिए सांप्रदायिक उपद्रव फैलते हैं। सही अर्थ में आदमी अनुशासनहीन नहीं है। उसका व्यवहार और आचरण किसी न किसी अनुशासन से प्रतिबद्ध है। यह अलग प्रश्न है कि आज जो अनुशासन की मांग है, उसकी भाषा क्या है, उसका अर्थ क्या है, उसके पीछे चिंतन क्या है?

अनुशासन का एक अर्थ है—दूसरों के आदेश का स्वीकार और अनुपालन। उसका दूसरा अर्थ है—दायित्व-बोध। पहला अर्थ बहुत विवादास्पद है। उसी का आदेश

मान्य हो सकता है जिसमें क्षमता, समता और ममता की त्रयी विद्यमान हो। कोई बड़ा-बूढ़ा है और मुखिया बना हुआ है, इसीलिए उसका आदेश उचित है, यह प्रश्न प्रबुद्ध मानस को झकझोरे बिना नहीं रहता।

जयाचार्य ने इस सचाई पर बहुत बल दिया कि जिसे अनुशासन की प्रतिष्ठा करनी हो, उसे स्वयं अनुशासित होना चाहिए। आदमी कहने से जितना नहीं सीखता उतना व्यवहार और आचरण से सीखता है। बड़े-बूढ़ों का आचरण और व्यवहार यदि अनुशासित होता है तो नई पीढ़ी को अनुशासन की प्रेरणा देने की बहुत आवश्यकता नहीं है; वह उसे स्वयं सीख जाती है। किंतु आश्चर्य है कि जो स्वयं अनुशासन से दूर रहकर बच्चों में अनुशासन लाना चाहते हैं, वे इस सचाई को भूल जाते हैं कि बच्चे आपकी बात कम मानेंगे, आपके व्यवहार को ज्यादा मानेंगे। जयाचार्य की दृष्टि में अनुशासन वही कर सकता है—

* जो समय पर मौन रहना जानता है और समय पर बोलना जानता है।
* जो क्षमा करना भी जानता है और आंख दिखाना भी जानता है।

सभ्य और प्रगतिशील समाज के दो लक्षण हैं—अनुशासन और विनम्रता। क्रोध और अहंकार—ये मानवीय प्रकृति के स्वाभाविक गुण हैं। ये उच्छृंखल होते हैं, तब अनुशासन और विनम्रता का विकास होता है। सही अर्थ में अनुशासन का अर्थ है—अपने-अपने क्रोध और अहंकार का परिष्कार करना। जयाचार्य स्वयं बहुत विनम्र थे। कृतज्ञता और गुणग्राहिता का भाव उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। उन्होंने अपने विद्यागुरु के प्रति जो विनम्र व्यवहार किया, उसे आदर्श माना जा सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की परंपरा का सूत्रपात किया था। जयाचार्य इसी परंपरा में पले-पुसे थे। अनुशासन उन्हें विरासत में मिला था। आचार्य ऋषिराय उनके गुरु थे। वे बहुत ऋजुमना और मृदु प्रकृति के थे, किंतु अनुशासन के क्षेत्र में बहुत दृढ़ थे। एक मुनि को वस्त्र की सिलाई करनी थी। वह गृहस्थ के घर से सूई ले आया। सूई लाए या धागा लाए या और कुछ भी लाए, व्यवस्था है कि आचार्य या अग्रणी की आज्ञा लेकर लाए। वह मुनि आज्ञा लिए बिना सूई ले आया। ऋषिराय को पता चला। उन्होंने पूछा—तुम आज्ञा लिए बिना सूई कैसे ले आए? वह बोला—सूई के लिए क्या आज्ञा लेनी थी? आचार्यवर ने कहा—प्रश्न सूई और चाकू का नहीं है, प्रश्न आज्ञा का है। सूई छोटी हो सकती है पर अनुशासन का भंग छोटा नहीं होता, यह कहते हुए ऋषिराय ने उसका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। जयाचार्य इस घटना के साक्षी थे। वे अनुशासन का बहुत सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते रहते थे। अनुशासन के तटबंध में एक छोटा-सा छिद्र बड़ा रूप ले सकता है और तटबंध को तोड़ सकता है, इस सचाई से वे परिचित थे।

तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी ने अपने उत्तराधिकार का पत्र लिखा। उसमें उन्होंने दो नाम लिख दिए—खेतसी तथा रायचन्द। जयाचार्य उस समय सत्रह वर्ष की अवस्था में थे। एक तरुण मुनि जीतमल के रूप में अपना अध्ययन और साधना कर रहे थे। उन्हें इस बात का पता चला। वे आचार्य भारमलजी के पास गए। वंदना कर, बद्धांजलि हो, विनम्र स्वर में बोले—गुरुदेव! आपने आचार्य पद के लिए दो नाम लिखे हैं। इस पर आप पुनर्विचार करें। ये दो नाम अनुशासन और व्यवस्था के लिए उलझन पैदा कर सकते हैं। आचार्य भारमलजी ने सहज-सरल भाव से उत्तर दिया—जीतमल! खेतसी मामा है और रायचन्द उसका भानजा। इसलिए कोई उलझन पैदा नहीं होगी। मुनि जीतमल ने प्रार्थना की—मामा-भानजा या पिता-पुत्र कोई भी हों, जहां दो होंगे वहां उलझन की संभावना होगी। इसलिए आचार्यपद के लिए एक ही नाम का उल्लेख होना चाहिए। आचार्यवर ने तरुण मुनि का सुझाव स्वीकार कर लिया और मुनि खेतसीजी का नाम वहां से हटा दिया।

जयाचार्य ने अनुभव किया कि संविभाग और समतापूर्ण व्यवहार के बिना अनुशासन को चिरजीवी नहीं बनाया जा सकता। विषमतापूर्ण व्यवहार मनुष्य को अनुशासनहीन बनाता है। उन्होंने साधु-संस्था में संविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। किसी साम्यवादी जीवन-प्रणाली में भी इतनी संविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था नहीं है, जितनी तेरापंथ की साधु-संस्था में है।

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—तेरापंथ धर्म-संघ कब तक चलेगा? उन्होंने उत्तर में कहा—पदार्थ के प्रति मूर्च्छा नहीं बढ़ेगी, आचारनिष्ठा और सत्यनिष्ठा बनी रहेगी तथा आचार्य और साधु अनुशासन के प्रति जागरूक रहेंगे, तब तक यह धर्मसंघ चलेगा।

बहुमुखी व्यक्तित्व

जयाचार्य के जीवन में तत्त्व-दर्शन और भक्ति का मणिकांचन योग था। कुछ लोग तत्त्ववेत्ता होते हैं, भक्त नहीं होते। कुछ लोग भक्त होते हैं, तत्त्ववेत्ता नहीं होते। जयाचार्य तत्त्ववेत्ता भी थे और भक्त भी थे। उन्होंने 'झीणीचर्चा,

'झीणोज्ञान', 'चर्चारत्नमाला' आदि ग्रंथों में तत्त्ववाद का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया। आपके भक्तिकाव्य बहुत जनप्रिय हैं। आपकी एक प्रसिद्ध कृति है—चौबीसी। उसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। हजारों-हजारों लोग प्रातःकाल उसका पाठ करते हैं। जब उसका विभिन्न लयों में संगान होता है, तब पूरा वातावरण भक्तिमय बन जाता है। आचार्य भिक्षु जयाचार्य के इष्ट थे। उनके जीवन में जब कभी कोई कठिनाई आई तब उन्होंने आचार्य भिक्षु की स्तुतियां रचीं। उनकी 'विघ्नहरण की ढाल' बहुत प्रसिद्ध है। शारीरिक, मानसिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विघ्नों के उपस्थित होने पर उसका स्मरण आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ किया जाता है।

आचार्यवर मंत्रविद् थे। उनका इष्ट मंत्र था—'अ सि आ उ सा', 'अ भि रा शि को' और चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र की दूसरी गाथा।

वे ज्योतिर्विद भी थे। सूर्यप्रज्ञप्ति खगोल विषयक सूत्र है। उन्होंने उसकी व्याख्या लिखनी शुरू की। सौ वर्ष का पंचांग बनाना प्रारंभ किया। किंतु कुछ व्यक्तियों का परामर्श मानकर उन्होंने उस कार्य को स्थगित कर दिया।

उन्होंने अनेक विधाओं में साहित्य लिखा। अनुशासन, मानसिक चिकित्सा, व्यवस्था, समतावाद, विनम्रता, मानव प्रकृति का विश्लेषण—ये उनके साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य रहे हैं। प्राकृतिक घटना और परिस्थिति पर भी उनकी लेखनी चलती रही। एक बार की घटना है, वे सुजानगढ़ में विराज रहे थे। नीचे रास्ते में दो कुत्ते आपस में लड़ रहे थे। दोनों आक्रमण की मुद्रा बनाए बहुत जोर-जोर से भौंक रहे थे। आसपास की शांति भंग हो रही थी। उस समय जयाचार्य का कविपुरुष बोल उठा—

नहीं ज्ञान अरु ध्यान, काम काज पिण को नहीं।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करै।।

एक दूसरा प्रसंग है। जयाचार्य पदयात्रा कर रहे थे। गर्मी का मौसम। राजस्थान की गर्मी। सूर्य का परम अनुग्रह। रेतीले टीले। सौर-ऊर्जा का उपयुक्त क्षेत्र। धरती ही नहीं, आदमी भी तप उठता है। चारों ओर धूप ही धूप। आवश्यकता हुई विश्राम की। छांह की खोज शुरू हुई। जहां दृष्टि जाए, वहां धूलि ही धूलि। धूलि का एकछत्र साम्राज्य। वृक्ष का दर्शन सत्य की भांति दुर्लभ है। बहुत खोजने पर भी दिखाई नहीं देता। पर वह असफल नहीं होता, जो निरंतर खोज में संलग्न होता है। आखिर एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। वह था खेजड़ी। राजस्थान का कल्पतरु। वह साग के लिए सांगरी देता है, बच्चों को खाने के लिए मीठे-मीठे 'खोखा' देता है और उसकी छोटी-छोटी पत्तियां धूप में तपे हुए राही को छांह देती हैं। खेजड़ी के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य जानता है। कल्पतरु के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य नहीं जान पाता। जहां धूप नहीं, वहां छांह का मूल्य कैसे आंका जा सकता है? जयाचार्य ने खेजड़ी के नीचे विश्राम किया। उन्होंने छांह की सुखद अनुभूति का एक दोहे में चित्रण किया—

छोटी सी इक खेजड़ी, गहरी ठंडी छांह।
जीत आदि मुनि संचर्या, विश्रामो तिहां पाय।।

जयाचार्यजी का जीवन रसहीन नहीं था। उनके जीवन में विनोद के दर्शन भी होते हैं। ऋषिराय जयाचार्य के गुरु थे। उनका शरीर स्वस्थ था। उन्हें तैल-मर्दन से बड़ी अरुचि थी। संवत् 1903 में वे चातुर्मास-प्रवास जयपुर में कर रहे थे। एक दिन घोड़े से टक्कर लग गई। हाथ की हड्डी उतर गई। चातुर्मास संपन्न होने पर भी विहार नहीं हो सका। चैत्रमास तक वहीं रुकना पड़ा। पुराने जमाने में अस्थि-पीड़ा में तैल-मर्दन एक मुख्य उपचार था। उसका प्रयोग चल रहा था। चातुर्मास संपन्न होने पर साधु-साध्वियों ने आचार्यप्रवर के दर्शन किए। जयाचार्य उस समय युवाचार्य अवस्था में थे। उन्होंने भी आचार्यप्रवर के दर्शन किए। ऋषिराय तैल-मर्दन करवा रहे थे। जयाचार्य ने वह देखा और तत्काल विनोद की भाषा में बोले—

कोई तेल लगाई आंवतो, करता तिण स्यूं तर्क।
इक दिन इसड़ो आवियो, गुरु रहै तेल में गर्क।।

व्यक्तित्व के विकास में सबसे बड़ी बाधा है—अहंकार। वह अच्छाइयों को स्वीकारने में बाधा डालता रहता है। जयाचार्य बहुत विनम्र थे। उन्होंने जहां कहीं अच्छाई देखी, वहीं से उसे लेने का प्रयत्न किया। उन्हें संस्कृत का विद्यादान एक विद्यार्थी से मिला था। वह दिन में संस्कृत पढ़ता था। रात के समय अपना पढ़ा हुआ पाठ आचार्यवर को सुना देता था।

लोकगीतों के गायकों से उन्होंने रागिनियां सीखीं। उनकी गीतिकाओं में सैकड़ों लोकगीतों और रागिनियों का प्रयोग मिलता है।

संप्रदायातीत धर्म के प्रवक्ता

भगवान महावीर संप्रदायातीत धर्म के मंत्रदाता थे। उस मंत्र का आचार्य भिक्षु ने पुनरुच्चारण किया। जयाचार्य ने उस घोष को प्राणवान बनाया। वे संप्रदायातीत धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे तब उनके सामने अनेक प्रश्न उपस्थित हुए। प्रत्येक संप्रदाय के पास अपने संप्रदाय से भिन्न लोगों के लिए एक शब्दावली गढ़ी हुई है। उसके शब्द हैं—

नास्तिक, मिथ्यादृष्टि, अधर्मी, काफिर आदि-आदि। एक भाई ने पूछा—'आप मिथ्यादृष्टि के आचरण को धर्म कैसे बतलाते हैं? उसे मोक्ष का हेतु कैसे बतलाते हैं?' आचार्यवर ने कहा—'शील, संतोष, दया और क्षमा—ये मोक्ष के हेतु हैं।' भाई बोला—'ये गुण अच्छे हैं, पर मिथ्यादृष्टि के हैं, इसलिए अच्छे नहीं हैं। खीर अच्छी होती है, पर भंगी की खीर कौन खाना चाहेगा?' आचार्यवर ने कहा—'भंगी की खीर मत कहो। यह भंगी का रुपया है, जो कहीं भी नहीं अटकता। सब लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं।' प्रश्न पूछने वाला था दिल्ली का एक नागरिक कृष्णचन्द्र माहेश्वरी। जयाचार्य का उत्तर उसके अन्तःकरण में पैठ गया। धर्म संप्रदाय से परे है, यह विश्वास पैदा हो गया।

जयाचार्यजी योगी थे। उन्होंने ध्यान के विषय में केवल ग्रंथ ही नहीं लिखे, किंतु ध्यान की गहराइयों में डुबकियां भी लगाई थीं। हमारा व्यक्तित्व रंगों से बहुत प्रभावित होता है। रंग की पसंद और नापसंद के आधार पर पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। प्रेक्षाध्यान की प्रणाली में अनेक प्रयोग हैं। उनमें एक प्रयोग है—रंग-ध्यान का। पारिभाषिक शब्दावली में उसे लेश्याध्यान कहा जाता है। पश्चिमी जगत में रंग-ध्यान पर बहुत कार्य हो रहा है। कलर-थेरापी और कलर-मेडिटेशन—इन विषयों पर काफी साहित्य लिखा जा रहा है। जयाचार्य ने रंग-ध्यान के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। वे आज के इस बहुचर्चित विषय में बहुत मूल्यवान हैं।

बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक दिशाओं में चैतन्य की ज्योति को प्रज्वलित और मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाले उस प्रज्ञापुरुष के प्रति विनम्र वंदना।

❖

तीसरा चक्षु

आचार्य ने कहा—शिष्य! अध्ययन करो। किंतु तर्क-मति शिष्य ने पूछा—भगवन्! मैं तो तपस्या की जीवनचर्या में संलग्न हूं, मेरे लिए अध्ययन की क्या आवश्यकता है? मैं तो तपस्वी हूं, विद्यार्थी नहीं।

आचार्य ने उत्तर दिया—अध्ययन से ज्ञान मिलता है और ज्ञान के बिना तुम्हारा वह प्रयोजन विफल हो जाएगा, जिसके लिए तुम तपस्वी बने हो। तुमने हाथी की जीवनचर्या देखी होगी। वह सरोवर में स्नान करता है और बाहर आकर अपने शरीर पर धूल फेंकने लगता है। अज्ञानी ऐसा ही करता है। हाथी की ही तरह स्नान की पवित्रता को धूल की अपवित्रता से नष्ट कर देता है। क्योंकि पवित्रता-अपवित्रता में वह कोई अंतर नहीं समझ पाता। अज्ञानी आचार के उपरांत कोई ऐसा अनाचार करता है जो उसकी संपूर्ण साधना को अर्थहीन बना देता है। अध्ययन और ज्ञान के बिना क्या तुम इस संकट से बच सकोगे?

तब शिष्य ने नम्र भाव से कहा—भगवन्! रोगी तो वैद्य के पास चला जाता है, स्वयं चिकित्साशास्त्र नहीं पढ़ता। आप मेरे मार्ग-दर्शक हैं, मुझे अधर्म-मार्ग में जाने नहीं देंगे। मुझे अध्ययन क्यों आवश्यक है?

आचार्य ने गंभीरतापूर्वक कहा—क्या तुमने अंध-स्थविर की कथा नहीं सुनी? लो सुनो—

उज्जैन में एक ब्राह्मण रहता था। वह अंधा हो गया। पुत्रों ने उसकी आंखों की शल्य-चिकित्सा करवानी चाही। वृद्ध ने अस्वीकार कर दिया। कहा—मुझे आंखों की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग मेरे आठ पुत्र हो, आठ कुलवधुएं हैं, तुम्हारी मां है। चौंतीस आंखें मुझे प्राप्त हैं, फिर दो नहीं रहीं तो क्या हुआ?

पिता ने पुत्रों की सलाह नहीं मानी। फिर एक दिन अचानक घर में आग लग गई। परिवार के सभी अपने-अपने प्राण लेकर बाहर भागे। वृद्ध की याद भी किसी को नहीं रही। वह अग्नि-ज्वाला में भस्म हो गया। इसीलिए शिष्य, अज्ञान का आग्रह मत करो। अध्ययन करो एवं स्वावलंबी बनो। ज्ञान तीसरा चक्षु है, पार्थिव चक्षुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे पाकर तुम धन्य हो जाओगे और मैं कृत-कृत्य।

—मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

कौशल का संबंध किसी एक ही कार्यक्षेत्र से नहीं है, एक ही समय या परिस्थिति से नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के अनुसार कौशल की परिभाषाएं बदलती रहती हैं। अध्यात्म या धर्म के क्षेत्र में कुशल उसे माना जाता है, जो स्वस्थ हो, आत्मस्थ हो, कषायमुक्त हो और पवित्र आभामंडल वाला हो। ऐसे व्यक्तियों के संपर्कमात्र से पाप दूर हो जाते हैं। ●

◆ आचार्यश्री तुलसी

जीवनशैली में कौशल

मनुष्य प्रवृत्ति करता है। उसके तीन साधन हैं शरीर, वाणी और मन। जैन दर्शन में इनके लिए योग शब्द का प्रयोग होता है। योग की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'मनोवाक्कायव्यापारो योगः'। मन, वाणी और शरीर के व्यापार का नाम योग है। गीता की परिभाषा के अनुसार कर्म में कौशल को योग माना गया है। कर्म करना मनुष्य की विवशता है। जब तक शरीर, वाणी और मन सक्रिय हैं, कुछ-न-कुछ कर्म होता रहता है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता। इस तथ्य को वहां इस रूप में प्रस्तुति दी गई है—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'—कोई व्यक्ति कभी एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता।

कर्म के दो रूप हैं—सहज और सुचिंतित। सहज कर्म होता रहता है। उसके लिए सोचने की अपेक्षा नहीं रहती। मक्खी दिन भर उड़ती रहती है। मछली पानी में चलती रहती है। मच्छर घूमता रहता है। खटमल काटता रहता है। कोई चिड़िया आईने के सामने बैठ जाए तो दिन भर लड़ती रहती है। उसकी लड़ाई किसी दूसरे से नहीं होती, अपने प्रतिबिंब से होती है। उसमें विवेक नहीं होता, इसलिए वह अपने ही प्रतिबिंब को दूसरी चिड़िया मान कर उसे चोंच से मारती है। मारते-मारते उसकी चोंच लहूलुहान हो जाए तो भी लड़ाई बंद नहीं होती। इन कार्यों में कौशल की बात का कोई तुक नहीं है। कौशल का प्रश्न वहां आता है, जहां कर्म सुचिंतित होता है, विवेक के साथ संपादित किया जाता है।

कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के

कौशल से कार्य करने वाला व्यक्ति कुशल कहलाता है। जैन आगमों में कुशल को असाधारण पुरुष माना गया है। उसके बारे में लिखा है—'कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के'—कुशल व्यक्ति न कहीं बंधा हुआ है और न कहीं मुक्त है। यहां कुशल शब्द वीतराग का वाचक है। उनके लिए कोई कल्प, मर्यादा या प्रतिबंध नहीं होता। प्रतिबंध मुक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि उनके कार्यों में करणीय-अकरणीय का विवेक नहीं रहता। वे ऐसा कोई काम करते ही नहीं हैं, जो अकरणीय हो। इसी दृष्टि से कहा गया कि वे मुक्त भी नहीं हैं। अकुशल और कुशल के कार्यों में कितना बड़ा अंतर है। अकुशल व्यक्ति पर अपनी आत्मा का नियंत्रण नहीं होता, इसलिए उसके लिए व्यवस्थागत या परकृत नियंत्रण जरूरी हो जाता है। कुशल व्यक्ति आत्मानुशासन से बंधा हुआ रहता है, इसलिए वहां बाह्य नियंत्रण अकिंचित्कर हो जाता है।

कैसे आता है कौशल

कौशल के संदर्भ में चार प्रकार की बुद्धियों का बोध प्रासंगिक प्रतीत होता है। अश्रुतनिश्रित मति के चार प्रकार बताए गए हैं—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी।

औत्पत्तिकी—सर्वथा अदृष्ट और अश्रुत विषय का एकाएक ज्ञान होना औत्पत्तिकी बुद्धि का काम है।

वैनयिकी—विनय का अर्थ है विधिपूर्वक शिक्षा। उस शिक्षा से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी कहलाती है।

कार्मिकी—कर्म का अर्थ है अभ्यास। अभ्यास करते-करते कोई कला या विद्या अधिगत होती है, वह कार्मिकी बुद्धि कहलाती है।

पारिणामिकी—अवस्था के साथ-साथ बढ़ने वाले अनुभवों से जो बुद्धि प्राप्त होती है, वह पारिणामिकी कहलाती है।

उक्त चारों बुद्धियों में कार्मिकी बुद्धि का संबंध कौशल

के साथ है। कर्म करते-करते उसमें जो सुघड़ता या दक्षता आती है, वही कार्य कौशल कहलाता है।

तीन भूतों का कार्य

किसी शहर में संक्रामक बीमारी फैल गई। बीमारी इतनी शीघ्रता से फैली कि प्रतिदिन लोग मरने लगे। एक-एक कर सैकड़ों व्यक्ति मर गए। डाक्टर, वैद्य अपनी समझ के अनुसार चिकित्सा कर रहे थे। पर उनका उपचार कारगर नहीं हुआ। सभी शहरवासी इस आकस्मिक आपदा से चिंतित थे। सबसे अधिक चिंता राजा को थी।

उन्हीं दिनों शहर में तीन भूतवादी आए। उन्होंने कहा—'हम उपद्रव को शांत कर सकते हैं।' राजा ने उनको राजदरबार में बुलाया। उनमें से एक बोला—'मैंने मंत्र की साधना की है। उससे एक भूत मेरे वश में है। वह सुंदर रूप बनाकर शहर में घूमता है। जिस समय भूत शहर में भ्रमण करता है, उस समय उसे देखकर कोई उसकी प्रशंसा कर देता है तो वह रुष्ट हो जाता है और प्रशंसा करने वाला नष्ट हो जाता है। जिस क्षण वह दिखाई दे, उसके सामने मध्यस्थ भाव से खड़ा रहने वाला रोग मुक्त हो जाता है।' राजा ने उस भूतवादी को छुट्टी दे दी। क्योंकि ऐसे सुंदर भूत की प्रशंसा कोई भी कर सकता था।

दूसरे भूतवादी ने कहा—'महाराज! मैंने लंबे समय तक साधना की है। साधना से आकृष्ट हो एक भूत मेरे साथ रहता है। वह बड़ा करामाती है। वह अपने रूप को विकृत कर शहर में भ्रमण करता है। उसे देखकर कोई हंसे या घृणा करे तो उसका सिर सात टुकड़ों में टूटकर बिखर जाता है। जो उसकी प्रशंसा और पूजा करता है, वह स्वस्थ हो जाता है।' राजा ने सोचा—ऐसे भूत को देखकर बच्चे हंसे बिना नहीं रहेंगे। बीमारी दूर करने के लोभ में देश की भावी पीढ़ी से हाथ धो बैठना बुद्धिमानी की बात नहीं है। दूसरे भूतवादी को भी बीमारी मिटाने का मौका नहीं मिला।

तीसरा भूतवादी राजा के सामने था। वह बोला—'राजन्! मेरी मंत्र साधना से जो भूत वश में हुआ है, वह बहुत विलक्षण है। वह अत्यंत कुरूप होकर शहर में घूमता है। उसे देखकर कोई घृणा करे, निंदा करे, गालियां दे, पत्थर फेंके, उपहास करे और कुछ भी करे, वह सम रहता है, और देखने मात्र से सबको स्वस्थ कर देता है। राजा ने उस भूतवादी को प्रयोग करने की अनुमति दी।

भूतवादी ने मंत्र का स्मरण किया और भूत आया। राजा के निर्देशानुसार वह शहर में घूमा। शहरवासियों ने उसको देखा और वे रोगमुक्त हो गए। राजा ने अपनी राजधानी में उस भूत की प्रतिष्ठा कराई। राजा की आज्ञा से शहर में घोषणा कर दी गई कि प्रतिवर्ष अमुक दिन इस भूत की पूजा की जाए। जो हर स्थिति में सम रहता है, वही पूजा-प्रतिष्ठा पाता है।

इस कहानी के तीनों भूत बीमारी को दूर कर सकते थे। किंतु तीसरे भूत को काम करने का अवसर मिला। क्योंकि उसके कार्य में कौशल था। उसने किसी को नुकसान पहुंचाए बिना शहर का संकट टाल दिया। यही काम प्रथम दो भूतों से कराया जाता तो शहर के कितने परिवार उजड़ जाते। इसलिए कार्य छोटा हो या बड़ा, महत्त्वपूर्ण हो या सामान्य, उसमें कौशल के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इयाणिं नो

कौशल का संबंध किसी एक ही कार्यक्षेत्र से नहीं है, एक ही समय या परिस्थिति से नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के अनुसार कौशल की परिभाषाएं बदलती रहती हैं। अध्यात्म या धर्म के क्षेत्र में कुशल उसे माना जाता है, जो स्वस्थ हो, आत्मस्थ हो, कषायमुक्त हो और पवित्र आभामंडल वाला हो। ऐसे व्यक्तियों के संपर्कमात्र से पाप दूर हो जाते हैं। इसी आशय को निम्ननिर्दिष्ट पद्य में देखा जा सकता है—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथा जलम्।।

तीर्थंकरों के दर्शन और साधुओं के वंदन से पाप वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे सच्छिद्र हाथ से पानी।

साधना के क्षेत्र में कौशल का संबंध अकरणीय कार्यों की निवृत्ति से है। साधना के पथ पर पैर टिकाते ही साधक कुशल बन जाए तो फिर कुछ करना शेष ही नहीं रहता। साधना की तड़प है। मानसिक संकल्प है। उस दिशा में प्रस्थान भी हो चुका है। फिर भी अपने आपको साधने में समय लग जाता है। पचास व्यक्ति साधना करते हैं। एक गुरु का सान्निध्य और एक समान वातावरण प्राप्त करके भी वे सब एक गति से आगे नहीं बढ़ पाते। एक हाथ की पांचों अंगुलियां समान नहीं होतीं। इसी प्रकार सब साधक समान नहीं हो सकते। एक साधु जिस दिन दीक्षित होता है, उसी दिन केवली बन सकता है। एक साधु कई जन्मों की साधना के बाद भी कैवल्य का वरण नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में उसके लिए कुशलता की न्यूनतम अर्हता यह है—'इयाणिं नो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं'—मैंने प्रमादवश आज तक जो कुछ किया, अब नहीं करूंगा।

साधक सोचता है कि अब तक वह कुशल नहीं था, उसका विवेक जागृत नहीं था, इसलिए उससे प्रमाद होता रहा। किंतु अब वह कुशल हो गया, उसका विवेक जाग गया, विवेक जागृति के बाद भी प्रमाद होता रहेगा तो कौशल का क्या लाभ? अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य के प्रति जागरूकता—यही है कुशलता के विकास की प्रक्रिया।

जब जागे तभी सवेरा

कुछ लोगों का चिंतन है कि किशोरावस्था और युवावस्था में जो काम नहीं हुआ, वह बुढ़ापे में कैसे होगा? मेरी दृष्टि में यह चिंतन निषेधात्मक है। काम करते-करते उसमें दक्षता आती है। आखिरी चोट से सफलता मिलती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले की चोटें व्यर्थ चली गईं। अंतिम बूंद से घड़ा भरता है, पर उसमें पूर्ववर्ती बूंदों का योग अनिवार्य है। इसलिए अतीत में कुछ नहीं हुआ, यह सोचना ही कुंठित होना है।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान नहीं जा पाता है। आज तक ध्यान नहीं गया। अब भी समय हाथ में है, उसे क्यों खोया जाए। जब जागे तभी सवेरा—इस सूक्त को सामने रखकर पुरुषार्थ के दीए को प्रदीप्त रखना आवश्यक है। जो लोग इस दृष्टि से सजग नहीं रहते हैं, वे अपनी उम्र के बहुत बड़े हिस्से को व्यर्थ ही खो देते हैं। ऐसे लोगों से मेरा परामर्श है कि 'गई सो गई अब भी राख रही को।' जो समय बचा है, उसका उपयोग करने से भी जीवन सार्थक हो सकता है। कहा भी है—'पाछल खेती नीपजे, तो पिण दालिद्दर जाय।' आषाढ़ में वर्षा नहीं हुई। सावन में वर्षा नहीं हुई। किसान निराश हो गया। भादवे में वर्षा हुई। उसने खेत नहीं जोता। साथियों ने उसको समझाया। उसका हौसला बढ़ा। उसने खेत में बीज बोए। फसल इतनी अच्छी हुई कि उसका भाग्य बदल गया। जो लोग उम्र के आखिरी पड़ाव पर पहुंचकर भी कौशल को हस्तगत करते हैं, वे बहुत कुछ कर सकते हैं।

कुशलता में अग्रसर होने की दिशा

कौशल के संदर्भ में मनुष्य को अपनी अवधारणाओं के मानक स्थिर करने होंगे। विद्या, अर्थ और शक्ति का उपयोग कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार मिलता है—

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय।।

दुर्जन व्यक्ति अपनी विद्या का उपयोग विवाद में करता है, धन प्राप्त कर वह अहंकारी बन जाता है और शक्ति संपन्न होकर दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है। जबकि सज्जन व्यक्ति विद्वान बनकर ज्ञान का आदान-प्रदान करता है। संपन्न होकर समाज एवं राष्ट्र के विकास में अर्थ का नियोजन करता है और अपनी शक्ति का उपयोग किसी की सुरक्षा में करता है।

सज्जन और दुर्जन का कुशल और अकुशल में आरोपण कर दिया जाए तो उनकी परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। इस परिभाषा को समझने के बाद हर समझदार व्यक्ति कुशल बनने की दिशा में अग्रसर होना चाहेगा। उसकी एक ही दिशा है 'प्रेक्षाध्यान'। जिसने ध्यान की साधना शुरू कर दी, उसने कुशलता के मार्ग पर पदन्यास कर लिया। ध्यान का साधक अपना चिंतन बदलता है, अपना व्यवहार बदलता है और दूसरों के बदलाव में निमित्त बनता है। बदलाव से जो परिणाम आता है, वह व्यक्ति को मौन प्रेरणा देता है कि कामकाज में ही नहीं जीवनशैली में भी कौशल का प्रवेश जरूरी है। ❖

भारतीयता : इक्कीसवीं सदी....पृष्ठ 21 का शेष

नामक मूल्य की विडंबना तो और भी उजागर है। चोरी सिर्फ सार्वजनिक धन की ही नहीं होती, उस श्रम की भी होती है जिसका वेतन आप भोग रहे हैं, 'मर्यादा' का जहां तक प्रश्न है, वह हर जगह लांघी जा रही है।

कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति है कि—विकारं परमार्थतो, ज्ञात्वानारंभः प्रतीकारस्य—विकार को पूरी तरह जाने-स्वीकार किए बिना उसके इलाज की शुरुआत की बात तक नहीं सोची जा सकती। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो इस तथ्य को याद रखना होगा, समसामयिक भारत के आचरणगत यथार्थ की उक्त चर्चा इसी सिलसिले में प्रासंगिक है। 'हम अपना घर साफ रखें'—गांधीजी की यह चेतावनी और 'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा'—अज्ञेय के इस आह्वान की भी सार्थकता यहीं समझ में आती है। ❖

'कमाल है, कोई सोच भी नहीं सकता कि इसके ठस दिमाग में ऐसी सनक भी पैदा हो सकती है?' बूढ़ा तैश में आकर कहने लगा, 'आप चिंता न करें, मैं उसे समझा दूंगा कि इस बेहूदी बात को अपने मन से निकाल दे। बड़ा सीधा लड़का है, हुजूर, कहते ही मान जाएगा।' ●

◆ लेव तोलस्तोय

अल्योशा

अल्योशा छोटा भाई था। एक रोज उसकी मां ने एक हंडिया में दूध भरकर उसे पादरी की बीमार पत्नी को देने के लिए भेजा। रास्ते में ठोकर खाकर वह गिर पड़ा और हंडिया फूट गई। इस पर मां ने उसकी खूब पिटाई की। तभी से मुहल्ले के छोकरों ने उसका नाम 'हंडिया' रख दिया।

अल्योशा बहुत दुबला-पतला था। बड़े-बड़े कान, जैसे पंख लगे हों। नाक, गेंद की तरह गोल एवं बड़ी थी। उसकी नाक की बाबत कई बार लड़के कह उठते—'अल्योशा की नाक कैसी, टेहरी पर पिल्ले जैसी!'

गांव में एक स्कूल भी था, मगर अल्योशा अनपढ़ ही रहा। निरा भोट था उसका दिमाग। फिर, पढ़ने की फुर्सत भी तो कहां थी उसे? चूंकि, बड़ा भाई शहर में किसी सेठ के पास नौकरी करता था, इसलिए घर का सारा काम उसे ही संभालना पड़ता था। बहुत छोटी उम्र में ही वह पिता के काम में हाथ बंटाने लग गया था। जब वह मात्र छह वर्ष का था, अपनी बहन के साथ, गायों एवं भेड़ों को उसने चरागाह ले जाना प्रारंभ कर दिया था। थोड़ा बड़ा होने पर वह घोड़ों की देखभाल भी करने लग गया था; दिन के साथ-साथ रात के समय भी। करीब-करीब आठों पहर वह घोड़ों की चौकसी करता, जब वे मैदान में चर रहे होते। बारह साल की उम्र में तो उसने गाड़ी हांकना एवं खेत जोतना भी सीख लिया था। हृष्ट-पुष्ट न होते हुए भी वह काम में बड़ा निपुण था। वह हमेशा प्रसन्नचित्त रहता था। जब लड़के उसका मखौल उड़ाते तो कभी चुप बना रहता या कभी थोड़ा-सा मुस्करा देता। और जब कभी पिताजी उसे डांटते-डपटते, वह चुपचाप सुनता रहता। डांट खत्म होने पर वह मुस्करा उठता और अपने काम में मशगूल हो जाता।

जब बड़े भाई को काम से निकाल दिया गया, तब वह उन्नीस वर्ष का हो चुका था। अतः उसके पिता बड़े भाई के स्थान पर नौकरी दिलवाने के लिए उसे भी उसी सेठ के पास ले गए। भाई के पुराने बूट, पिता की टोपी एवं ढीला-ढाला कोट पहनकर वह शहर पहुंचा। अल्योशा अपने लिबास से काफी खुश था, पर सेठ को उसका यह स्वांग पसंद नहीं आया।

'मैंने तो सोचा था कि सेम्योन की एवज में तुम मुझे कोई आदमी लाकर दोगे।' सेठ ने अल्योशा की ओर देखते हुए कहा, 'और तुम इस बौने को पकड़ लाए। यह मेरे किस काम का?'

'यह कुछ भी काम कर सकता है, हुजूर। घोड़ों को बांधने से लेकर, गाड़ी हांकने तक सब कामों में माहिर है—एकदम उस्ताद और खांटी। दिखने में भले ही लमछड़ लगे, मगर है बड़ा मजबूत, दमखम वाला।'

'होगा, पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता।'

'एक खूबी और भी है इसमें, कभी सामने नहीं बोलता, सिर्फ काम से काम रखता है।'

'अच्छा, तो ठीक है, मैं अभी कुछ भी तय नहीं कर सकता। छोड़ जाओ, देख लूंगा।'

और अल्योशा सेठ के पास रह गया।

सेठ का परिवार भी कोई खास लंबा-चौड़ा नहीं था। एक पत्नी, एक बूढ़ी मां, एक शादीशुदा लड़का, जो थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा भी था, अब पिता के व्यवसाय में हाथ बंटा रहा था। छोटा लड़का स्कूल की पढ़ाई पूरी करके कॉलेज में दाखिल हुआ, मगर किसी कारण से निष्कासित कर दिया

गया, फिलहाल घर बैठा था और एक लड़की, जो अभी स्कूल में पढ़ रही थी।

पहले अल्योशा किसी को भी अच्छा नहीं लगा—बिल्कुल उजड्ड व गंवार। न कपड़े-लत्ते पहनने का सलीका, न बोलने का शऊर और न तमीज से सरोकार। किंतु बाद में धीरे-धीरे सब उसके आदी हो गए! अपने भाई से भी बेहतर व सुथरा काम था उसका और न कभी किसी को पलट कर उसने जवाब ही दिया। उसे जिस किसी काम का आदेश मिलता, बड़ी लगन एवं फुर्ती से निबटा देता। एक के बाद एक काम का तांता पकड़ता रहता, पर विश्राम का नाम तक नहीं। और यहां भी घर की तरह सारे काम का बोझा उसी के कंधों पर आ पड़ा। जितना अधिक वह दौड़-दौड़ कर काम करता, हर कोई उसके लिए अगला काम तैयार रखता। मालकिन, मालिक की अम्मा, उसकी लड़की, लड़का, दूकान का गुमाश्ता और खाना बनाने वाली बावर्चिन तक उसे इधर-उधर भेजते रहते। मतलब कि हर कोई उस पर निर्भर था। मगर मजाल कि उसके मुंह से चूं तक निकल जाए! जिस किसी के मुंह से एक ही नाम की रट सुनाई देती, 'अल्योशा, मेरा एक काम करना।' 'अल्योशा यह करना', 'अल्योशा वह करना।' 'अरे, तू भूल गया अल्योशा', 'देख, अल्योशा। भूलना मत।' 'अल्योशा, याद रखना।' सर्वत्र अल्योशा, अल्योशा और अल्योशा! और वह दौड़-दौड़ कर सब का काम करता, कुछ नहीं भूलता, सबको खुश रखता और खुद हंसता रहता।

दिन-रात काम करते-करते भाई वाले बूट जल्द ही फट गए। फटे जूतों से उसके पांवों की अंगुलियां बाहर झांकने लगी थीं, फिर भी बिना संकोच के वह अपने काम में खोया रहता। एक दिन मालिक ने उसे इस हालत में देख लिया और कसकर डांट पिलाई। फिर, बाजार से उसके लिए बूटों की एक नई जोड़ी मंगवाई। नए बूट पहन कर अल्योशा बहुत खुश हुआ, मगर उसके पांव तो वैसे ही थे—टेढ़े-मेढ़े। शाम तक रबड़ते-रबड़ते वे दर्द करने लगे और वह परेशान हो गया। इससे भी बड़ी परेशानी एक और थी कि पिता के आने पर जब पैसे काटकर उसकी पगार देगा तो उन्हें जूतों की खरीद का पता लग जाएगा। तब वे भी डांट-फटकार कम नहीं करेंगे।

जाड़े के दिनों में अल्योशा मुंह-अंधेरे उठता, लकड़ियां काटता, अहाते की सफाई करता, गाय एवं घोड़े को नीरता, पानी पिलाता, चूल्हा सुलगाता, बूटों की पॉलिश करता, मालिक के कपड़ों को ब्रुश से झाड़ता और समोवर को हरदम जगाए रखता। इसके बाद गुमाश्ते की आज्ञा से सामान ढोकर दूकान ले जाता था। बावर्चिन के आग्रह पर आटा गूंधता, बर्तन मांजता। फिर अन्य कामों के लिए शहर जाता, जैसे : रुक्के पहुंचाना, मालिक की लड़की को स्कूल से लेकर आना और बुढ़िया के लिए बालों का तेल लाकर देना। 'कहां रबड़ता फिरता है, अहमक कहीं का।' कोई-न-कोई उसे डांट कर पूछता। तो कोई कहता, 'अरे! तुम क्यों बेकार तकलीफ करते हो? अल्योशा जो है—चला जाएगा।' 'अल्योशा, ऐ अल्योशा।' और अल्योशा हाजिर।

वह दौड़ते-भागते ही नाश्ता करता और ब्यालू के समय भी बहुत कम मौजूद रहता। इसके लिए बावर्चिन उसे टोकती रहती कि वह सबके साथ वक्त पर खाना क्यों नहीं खाता? फिर भी, पूरे घर में सिर्फ एक बावर्चिन ही ऐसी थी जो उसका खयाल रखती, उसकी हालत पर मन-ही-मन दुखी होती और अक्सर सबकी नजरों से बचाकर उसके लिए गरम-गरम खाना सहेज कर रखती। छुट्टियों के पहले एवं उनके दौरान तो अल्योशा के लिए काम का अंबार लगा रहता; फिर भी उसे छुट्टियां पसंद थीं, इसलिए कि उसे यदा-कदा बख्शिश मिल जाती। ज्यादा तो नहीं, फिर भी कुल मिला कर साठेक कोपेक तो बन ही जाते; लेकिन यह उसकी अपनी पूंजी होती, जैसी इच्छा होती खर्च करता। अपनी पगार पर वह कभी नजर नहीं रखता। एक दिन उसके पिता आते और सेठ के पास जमा राशि लेकर चले जाते और जल्दी-जल्दी बूट फाड़ डालने की लापरवाही पर खरी-खोटी सुनाना कभी नहीं भूलते। बेटे के साथ पिता का बस एक यही सिलसिला था।

होते-होते जब बख्शिश की जमा-जथा दो रूबल हो गई, तो एक दिन बावर्चिन की सलाह मान कर वह अपने लिए लाल रंग की बुनी हुई एक जैकेट खरीद लाया, जिसे पहनकर वह इतना खुश हुआ कि मारे खुशी के उसका मुंह फटा-का-फटा रह गया।

अल्योशा बहुत कम बोलता था। बोलने के लिए कुछ था भी नहीं! मगर जब भी बोलता तो एकदम अकस्मात् और आधा-अधूरा। पर किसी भी समय उससे काम करने को कहा जाता या पूछा जाता कि क्या वह अमुक काम कर सकता है तो वह अदेर, बिना किसी हिचकिचाहट के हामी भर लेता, 'हां बेशक, आराम से।' और वह काम शीघ्र ही संपन्न हो जाता।

वह कोई प्रार्थना नहीं जानता था। मां ने ठेठ बचपन में जो प्रार्थनाएं सिखाई थीं, वह उन्हें भूल चुका था। फिर भी हर रोज दोनों वक्त, हाथों का क्रॉस बनाकर जितना भी समय

मिल पाता, वह मन-ही-मन भगवान का सुमिरन जरूर करता।

इस तरह, अल्योशा को सेठ के यहां रहते डेढ़ बरस बीत गया। और दूसरा बरस गुजरते-गुजरते उसके जीवन में एक अपूर्व असाधारण घटना घटित हुई। और वह घटना उसके लिए मनुष्य के आम प्रचलित संबंधों के अलावा एक अप्रत्याशित आश्चर्यजनक संबंध की खोज थी, जो आदमी को केवल अपने फायदे के लिए इस्तेमाल नहीं करता। वह संबंध न तो आपसे अपने बूट चमकाना चाहता है, न बोझा लदवाना चाहता है, न अपने गाय-घोड़ों की रखवाली करवाना चाहता है, बल्कि इसके विपरीत वह तो आपको हरदम अपने पास देखना चाहता है—आप जिस रूप में हैं, उसी रूप में, ताकि वह आपकी देख-भाल कर सके, आपको दुलार सके। और जो अल्योशा नाम का अदना प्राणी था, ठीक इसी रूप में उसकी जरूरत समझी जा रही थी।

उसे इस बात का पता चला—उस्तिन्या से, जो सेठ के यहां बावर्चिन थी। एक जवान व अनाथ लड़की, जो अल्योशा की तरह ही मेहनती थी। अल्योशा की दुर्दशा देख कर उसे सहानुभूति होने लगी थी। उसके दुख से वह भी दुखी रहने लगी। और अल्योशा को अपने जीवन में पहली बार यह अहसास हुआ कि इस पृथ्वी पर एक ऐसा इंसान भी है जिसे 'खुद अल्योशा' की चाह है, उसकी सेवाओं की नहीं। इससे पहले, जब उसकी मां उसके लिए दुखी होती तो उधर उसका कभी खयाल ही नहीं गया। यह तो होना ही है, जिस तरह वह स्वयं अपने लिए दुखी होता है। पर उस्तिन्या का मामला दूसरा है। उसे अचानक इस बात का बोध हुआ कि नितांत अजनबी होते हुए भी उस्तिन्या उसके लिए दुखी होती है; उसके लिए दलिए में मक्खन डालकर रखती है और आस्तीन चढ़ी बांह पर अपनी ठुड्डी टेककर उसे खाते हुए टुकुर-टुकुर देखती रहती है। जब वह मुंह उठाकर उसकी ओर देखता तो वह अनायास हंस पड़ती, वह भी हंस पड़ता।

यह बात इतनी अपूर्व एवं अनूठी थी कि शुरुआत में तो अल्योशा भीतर-ही-भीतर सहम गया। उसे आशंका थी कि वह पहले की तरह शायद ही अपना काम सलीके से कर सके। लेकिन साथ-ही-साथ वह खुश भी था। एक बार जब वह उसकी फटी हुई पतलून पर पैबंद लगाकर लाई, उसने अपना सर हिलाया और हंस दिया। जब वह काम कर रहा होता या काम के लिए कहीं जा रहा होता, अक्सर उस्तिन्या के बारे में सोचता, उसका नाम गुनगुनाता; 'उस्तिन्या... वाह... उस्तिन्या!' जब भी बन पड़ता, उस्तिन्या उसकी मदद करती और वह उस्तिन्या के काम में हाथ बंटाता। उसने अपने जीवन की दास्तान उसे सुनाई कि वह कैसे अनाथ हुई, कैसे उसकी चाची ने उसे सहारा दिया, किन मुसीबतों में वह शहर आई, किस तरह मालिक के लड़के ने उसे बहकाने की कोशिश की और किस तरह उसने समझा-बुझाकर उसे व्यापार पर जाने के लिए राजी किया। उस्तिन्या को यह सब सुनाना बहुत अच्छा लगता और अल्योशा को उसे सुनना। उसे इस बात का पता चल गया था कि जो भी किसान गांव से शहर में आकर काम करने लगते हैं, वे किसी बावर्चिन से शादी कर लेते हैं। एक दिन उस्तिन्या ने उससे पूछा—क्या उसका जल्द ही ब्याह होने वाला है? उसने बताया कि इस बाबत वह कुछ नहीं जानता, पर किसी गांव की लड़की से वह शादी नहीं करेगा, यह निश्चित है।

'अच्छा, तो क्या तुमने अपनी पसंद की लड़की देख रखी है?'

'मैं तो तुम से शादी करूंगा, क्या तुम राजी हो?'

'देखा, लोग तो इसे 'हंडिया' कहते हैं; मगर इसने तो कमाल कर दिखाया। अपने ब्याह की बात खुद अपने मुंह से कह दी।' उसकी पीठ पर गमछा फटकारते हुए उसने कहा, 'भला, मुझे क्या एतराज हो सकता है?'

एक त्योहार के मौके पर अल्योशा के पिता उसकी पगार लेने शहर आए। सेठ की पत्नी को किसी तरह भनक पड़ गई कि अल्योशा, उस्तिन्या से शादी करना चाहता है, मगर यह बात उसे कतई गवारा नहीं थी। 'शादी होने के बाद तो वह मां बन जाएगी, भला छोटे बच्चे की मां क्या काम कर सकेगी?' अपने पति के सामने उसने अपने मन की आशंका प्रकट की।

सेठ ने अल्योशा के पिता को उसकी पगार सौंप दी।

'लड़का काम तो ठीक कर रहा है ना हुजूर?' उसने जानना चाहा। 'क्यूं, मैंने ठीक ही कहा था कि वह कभी सामने नहीं बोलता, किसी काम के लिए आनाकानी नहीं करता?'

'हां, तुमने कुछ भी गलत नहीं कहा, मगर उसके दिमाग में आजकल एक फितूर मचल रहा है, वह हमारी बावर्चिन से शादी करना चाहता है और मैं शादीशुदा नौकरों को नहीं रखता; मुझे रास नहीं आता।'

'कमाल है, कोई सोच भी नहीं सकता कि इसके ठस दिमाग में ऐसी सनक भी पैदा हो सकती है?' बूढ़ा तैश में आकर कहने लगा, 'आप चिंता न करें, मैं उसे समझा दूंगा कि इस बेहूदी बात को अपने मन से निकाल दे। बड़ा सीधा लड़का है, हुजूर, कहते ही मान जाएगा।'

वह रसोई में गया और मेज पर बैठकर अपने पुत्र की राह देखने लगा। वह किसी काम से बाहर गया हुआ था। जब आया तो वह हांफ रहा था।

'मैं तो समझता था कि तुम एक सुशील लड़के हो, मगर यह क्या खब्त सवार हो गई?' पिता ने बेटे से जवाब तलब किया।

'कैसी खब्त? कुछ भी तो नहीं!'

'मुझ से ही चालाकी? तुम शादी के बारे में सोच रहे हो? मुझे खुद इसका पूरा खयाल है। समय आने पर मैं अपने-आप अच्छी-सी लड़की ढूंढ़कर तुम्हारी शादी कर दूंगा; मगर शहर की कुतिया से नहीं।'

पिता ने कसकर उसे आड़े हाथों लिया। अल्योशा चुपचाप सुनता रहा। बूढ़े ने जब अपनी बात समाप्त की तो अल्योशा मुस्कराया।

'अच्छा, मैं यह विचार छोड़ दूंगा।'

'इसी में तुम्हारी भलाई है!'

जब उसके पिता चले गए तो वह उस्तिन्या के साथ अकेला रह गया। पिता ने जो कुछ भी कहा उसने उस्तिन्या को साफ-साफ बता दिया। (वैसे इसकी कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि उस्तिन्या ने दरवाजे की आड़ में सब-कुछ सुन लिया था।)

'सब कुछ खत्म हो गया। सुन रही हो? वे बहुत गुस्से में थे। रह-रहकर अपने पांव पटक रहे थे।'

उस्तिन्या अपने पटबंद में मुंह छिपाकर सिसकियां भरने लगी।

अल्योशा अपनी जीभ चटकाता रहा।

'उनका कहा नहीं टाल सकता। हमें यह खयाल छोड़ ही देना चाहिए।'

शाम पड़ने पर मालकिन ने उसे जाफरी बंद करने के लिए बुलाया, तब पूछा, 'क्यों, पिता की बात पर कुछ गौर किया? इस बेहूदे फितूर को अपने दिमाग से निकाल रहे हो कि नहीं?'

'निकालना ही पड़ेगा!' अल्योशा ने हंसकर जवाब दिया, फिर झार-झार रोने लगा।

उस दिन के बाद अल्योशा ने फिर कभी उस्तिन्या से शादी के बारे में चर्चा नहीं की और उसकी जिंदगी उसी लीक पर चलती रही।

एक दिन 'लेंट' के दौरान गुमाश्ते ने अल्योशा से छत पर जमे बर्फ की सफाई करने के लिए कहा। अल्योशा छत पर चढ़ा और सारा बर्फ झाड़-बुहार कर इकट्ठा कर लिया। फिर वह उस ढेर को फावड़े से नाली में फेंकने लगा तो अचानक उसका पांव रपट गया और वह फावड़े सहित नीचे आ गिरा। बदकिस्मती से, वह बर्फ पर नहीं गिरकर दरवाजे की चौखट पर लगी लोहे की चद्दर पर गिरा। उस्तिन्या और मालिक की लड़की दोनों झटपट दौड़कर उसके पास आईं।

'कहीं चोट तो नहीं आई, अल्योशा?'

'चोट तो आई है, पर कोई खास नहीं।'

उसने उठने की कोशिश की, मगर उठ नहीं सका। फिर अपने-आप अकारण ही मुस्करा उठा।

उसे उठाकर अंदर लिया। डॉक्टर का सहयोगी आया। देखा और पूछा कि उसे कहां चोट लगी है?

'सारा बदन दुख रहा है, मगर कोई खास बात नहीं। मालिक बड़े गुस्सा होंगे, डर केवल इसी बात का है। हो सके तो पिताजी को इसकी खबर पहुंचा दीजिए।'

इसी हालत में अल्योशा दो दिन तक बिस्तर में पड़ा रहा। तीसरे दिन पादरी को बुलाने भेजा।

'क्या, तुम मर जाओगे?' उस्तिन्या ने रुंधे गले से पूछा।

'तुम क्या सोचती हो कि हम हमेशा के लिए जिंदा रह सकते हैं? आखिर एक दिन तो मौत आनी ही है।' अल्योशा ने अपनी आदत के अनुसार संक्षेप में जवाब दिया। 'मेरा आखिरी शुक्रिया कबूल करो उस्तिन्या। मैं तुम्हारा बहुत आभारी हूं। तुमने मेरे लिए कितनी उदारता बरती! अच्छा ही हुआ कि उन लोगों ने अपनी शादी नहीं होने दी, नहीं तो अनर्थ हो जाता? लेकिन... अब... अब सब ठीक है।'

पादरी के आने पर अल्योशा ने अपने हाथों से, अपने हृदय से निःशब्द प्रार्थना की, जिसका आशय था—जब इस संसार में—आज्ञाकारी होने से, किसी को नुकसान नहीं पहुंचाने से, हर मनुष्य का भला होता है, तो परलोक में भी उसका भला होगा।

वह बहुत ही कम बोला। सिर्फ बार-बार पानी की मांग करता रहा। हां, उसकी आंखों में परेशानी की व्यंजना अवश्य झलक रही थी।

एक बार उसने विस्मय-भरी आंखों से इधर-उधर देखा, किसी असह्य पीड़ा से दुहरा हुआ और हमेशा के लिए आंखें बंद कर लीं। ❖

वंशी माहेश्वरी की कविताएं

•

आसक्ति

मृत्यु
जीवन में संचित होती हुई
जीवित होने की तलाश में
भटकती है
सांस के पारदर्शी एकांत में।

जीवन
शब्द की संभावना की तरह बिछा है
बीहड़ दुर्गम
जहां मृत्यु का स्वायत्त संसार
रूपायित होता है निस्संग
और जीवन की तीव्रता
न्यौछावर होती है
स्वप्न और यथार्थ के उत्कर्ष में
मृत्यु
बार बार मथती रहती है
अपना एकांतिक उद्वेग!

इसके आर पार
क्लांति भरी नीरवता के स्याह रंग में
बहुत गहरे
डूब जाती है आसक्ति!

•

अपने ही भीतर बहुत गहरे

समय
घुमावदार सीढ़ियों में
हमेशा की तरह
हमेशा चढ़ता उतरता
दूर से दिखाई दे जाता है
उस का कद
कद जितना सांवला धब्बा।

किसी भी समय
सुबह शाम
अटूट सन्नाटे में
अपने ही भीतर बहुत गहरे उतर जाता है
पहुंच जाता है अकेला
उन रास्तों से जहां
यात्रा और अलविदा की कामनाएं
पत्थर की देह में खुदी हैं।

•

वह

कितनी आंखें
कितने मन मनुष्य के
निराशा के भीतर दुबककर बैठी वह
सोच रही है दुर्गम

एकाएक सारे मनुष्य
उठकर कहां चले गए
उसे पता नहीं

उसकी कोशिश का दुबला पतला शरीर
मनुष्य के बाहर खड़े
मिथक की दरार में फंस गया है।

•

आकाश

प्रकृति
आंख उठाकर
आकाश निहारती है

आकाशत्व में लीन आकाश
अपने नीले सपनों में
असीम दुनिया जीता है।

प्रकृति
गहरी पीड़ा की विह्वलता
स्मृतियों में फैलाकर
अपनी थकी आंखों में
लौट आती है।

मृत्यु की परिक्रमा
लगाता आकाश
प्रकृति के बिल्कुल पास आकर
अपने असह्य
अहसासों को छोड़ जाता है। ❖❖

शीलन

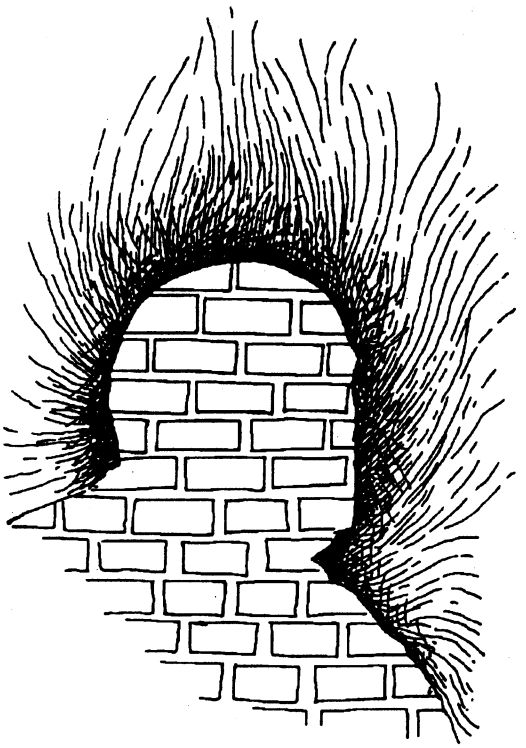

'देशभक्ति' शब्द का प्रयोग तो बहुत होता है पर बहुत कम लोग समझते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है। देश की सेवा कहने से भी वह सब बातें नहीं प्रकट होतीं जो 'देशभक्ति' शब्द का प्रतिपाद्य है। देश केवल मानचित्र नहीं है। देश-सेवा का अर्थ है देश के कोटि-कोटि लोगों को अज्ञान, कुशिक्षा, दारिद्र्य और परमुखापेक्षिता से बचाना। जिसके मन में यह बड़ा संकल्प आ जाएगा वह कभी निचली श्रेणी के स्वार्थ का शिकार नहीं हो सकता। इस देश की समूची जनता को ठीक-ठीक समझने के लिए इस देश के इतिहास की जानकारी आवश्यक है; इस देश की समस्त प्राकृतिक शक्तियों का—जंगलों-पहाड़ों का, खनिजों का, नदियों का—ठीक-ठीक ज्ञान अपेक्षित है; इनका सर्वोत्तम उपयोग पहले किया जाए, इस कौशल की जानकारी भी जरूरी है और देश में बसी हुई सैकड़ों जातियों, उपजातियों, श्रेणियों और जमातों के आचार-विचार, धर्म-नियम, रीति-नीति का अध्ययन भी आवश्यक है। जो इस विशाल देश की सेवा करना चाहता है उसे इसकी समाज-व्यवस्था को खूब परिश्रम से समझना चाहिए। सबके लिए गंभीर अध्ययन और अविचल मनोयोग की आवश्यकता है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दवाब के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिंदगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आस-पास दरिद्रता और दुख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जाएगी। ●

◆ मो. क. गांधी

किसे कहें नीति

जिस वस्तु से हमारे मन में अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं—एक से वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जाएं तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहां ये तीनों इकट्ठे हों, वहां कैसी खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार तो वास्तु-विशारद के नक्शे के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नक्शा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नक्शे की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीति के विचारों को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमें संपूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुन कर हमें चौंकना नहीं चाहिए; बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझ कर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, 'आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुंचने के पहले लड़ाई न लड़नी थी।' इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी में जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है; उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति-भंग करते हैं वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बनाते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किए बिना उससे रहा नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करने वाला अवसर देने वाले का एहसान-मंद होता है। वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिल्कुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाए। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जाएं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज सरहद पर पहुंच पाए। इस मार्ग के अंदर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्य को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमें कोई लाभ होगा।

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की बहुत परवाह नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाए तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, ऐसे लोगों को नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी बेंथम को, जिसने इंग्लैंड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूंढ़ निकाले, जिसने अंग्रेज जनता में शिक्षा-प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्ते से हम वाकिफ हों या न हों—उस पर हमें चलना चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उस पर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाए तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं।

अपनी इच्छाओं की जांच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उस पर गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आंकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं के पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाए, उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें; जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गए। जो करना हमें उचित है उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जन-समाज या कुटुंब में अनीति के बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगार की मिसाल ली जाए तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ीभर शांति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों में नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजी से नीति-रूपी संदूक को खोलकर देखा जाए तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें मिल जाएंगे।

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुक्त है? यह सवाल करने में नीति वाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों में खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करें तो अंधाधुंधी चलने लगें और दुनिया का कार-बार बंद हो जाए, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने को नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए, जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जब तक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों तब तक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरजे की तरह काम करना हम पर फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुक्त है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं।

यह यांत्रिक काम और वह काम करने का विचार करना इन दोनों में जो भेद है, वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफी की चिट्ठी ले जाने वाले चपरासी का राजा के किए हुए नीतिमय कार्य में यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाए कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है, वह नीति को कैसे समझेगा? कितनी ही बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर परमार्थ करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, 'जब तक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तब तक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिंता नहीं है।' यह स्थिति हमें तब तक प्राप्त नहीं होने की, जब तक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अंतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वतः अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना न होना, करने वाले के इरादे पर अवलंबित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का नीतियुक्त माना जाएगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अंतर है, वह यहां पाठकों को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फल पर हमारा बस नहीं, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकंदर को इतिहासकारों ने महान माना है। वह जहां-जहां गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पाना था, अतः कौन कह सकेगा कि उसके काम में नीति थी? वह महान भले ही कहलाया, पर नीतिमान नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किए हुए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दवाब के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिंदगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आस-पास दरिद्रता और दुख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जाएगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जाएंगे इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाए या उन्हें अच्छी या अधिक तनख्वाह दी जाए तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मैं उनका भला चाहूं, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंग्लैंड के राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आंखें लाल किए हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उनके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए उसे नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या जोर-जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी नहीं होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहार नीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं।

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता, वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई, भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जाएगा। महान जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि

वह मनुष्य का कर्तव्य है। महान भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मशाल और बाएं हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मशाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोजख की आग बुझा दे, जिससे इंसान दोजख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बांधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना और दुश्मन से दगाबाजी करना, यह नामर्दी का काम है। डर-डर कर भले काम करने वाला नीतिरहित ही माना जाएगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते। ❖

' '

स्कूलों में जो होता है वह यह है कि बच्चे शब्दों की इन लड़ियों को बिना पचाए ही अपने दिमाग में सहेजते जाते हैं, ताकि शिक्षक जब भी मांगें, वे उसे उगल सकें। पर ऐसे में न तो उनके शब्द बदल ही पाते हैं, न ही किसी दूसरी वस्तु के साथ जुड़ते हैं, न उनके साथ शब्दों का कोई संबंध ही बन पाता है। वे उतने ही अर्थहीन होते हैं जितने किसी तोते के बोल, खुद तोते के लिए। हम स्कूलों को ऐसे स्थानों में कैसे बदलें, जहां बच्चे केवल निगलें नहीं, कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त करें?

मुझे अब अहसास होता है कि जब कभी हम जानने की चेष्टा करते हैं कि हमारे छात्रों ने क्या समझा है तो हम उनकी जैसी भी समझ पनपती है, उसे भी नष्ट कर देते हैं। जब तक किसी वस्तु का ज्ञान सुदृढ़ नहीं हो जाता, बच्चे अधिकार से उस पर बोल नहीं सकते, तब तक उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे अपने ज्ञान के बारे में कुछ बताएं, या यह बताएं कि उन्होंने जो जाना या पाया वह कैसे जाना, बिल्कुल बेमानी है। छोटे बच्चों से ऐसे सवाल पूछना ही अनुचित है। बच्चों ने क्या जान लिया है इसका कुछ-कुछ अनुमान हम तब लगा सकते हैं, जब हम उन्हें कुछ करते देखें। वह भी उस स्थिति में, जब उन्हें अपनी रुचि का काम चुनने की स्वतंत्रता हो।

हम यह भी कर सकते हैं कि हम बच्चों को कुछ ऐसे रास्ते भी सुझाएं, जिनसे वे स्वयं अपनी समझ को जांच सकें, अपने विचारों की सचाई को परख सकें। पर यहां भी ध्यान रहे कि स्व-परीक्षण का अगर कोई एक तरीका अच्छा है तो सौ बेहतर भी होंगे। यानी यहां भी सबसे अच्छे नियम वही होंगे जो छात्र अपने अनुभव से अपने लिए बनाएं।

—जॉन होल्ट

विषम परिस्थिति से मुक्त होने और अपने वर्तमान को सुखकर बनाने का एक ही उपाय है कि व्यक्ति स्वार्थों से बने संबंधों को जाने और दूसरों द्वारा किए गए असहयोग के क्षणों को भूले। 'जैसे को तैसा' की भावना का रंचमात्र भी स्पर्श किए बिना अपनी अच्छाई को कायम रखे। 'अतीतं व्यतीतं' के साथ आगे बढ़े। अपमान के प्रसंगों को विस्मृत करे। मस्तिष्क के हल्केपन का यही सरल मार्ग है। ●

◆ समणी सत्यप्रज्ञा

अतीतं व्यतीतं

व्यक्ति का वर्तमान सदैव अतीत व भविष्य की परिक्रमा करता रहता है। स्मृति मानवीय मस्तिष्क की विशेष अर्हता है। इसी के आधार पर विकास की दिशा को गति मिलती है। साथ ही स्मृति के सम्यक् संप्रयोग को न जानने से व्यक्ति गहन अवसाद के द्वार में भी धकेला जा सकता है। विकास सदा सपनों की उंगली पकड़ कर चलता है। इसीलिए विकास के राही के लिए जीवन के उतार-चढ़ाव भरे कुछ पहलुओं को भूलना भी अनिवार्य हो जाता है। कुछ भूलकर ही व्यक्ति विशिष्ट उपलब्धि की यात्रा तय कर पाता है।

सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अंग है—सहयोग। एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ही सहजीवन संभव है। यह उचित ही है कि सहयोग लेकर न भूलें, कृतज्ञता का भाव बना रहे। महाभारत में कहा गया—जिसने कभी तुम्हारा उपकार किया हो, यदि वह बड़ा अपराध भी कर ले तो पहले किए उसके उपकार को याद करके उसका एक अपराध क्षमा कर दो। सहयोग करके भूल जाने की आदत कुछ बिरले ही लोगों में होती है। अलबत्ता अकेले में या समूह में बार-बार अपने द्वारा दिए गए सहयोग का सगर्व उल्लेख करने से बच पाना बहुत कठिन है। ऐसी चर्चा से उनके अहं को संपोषण मिलता है। 'वो तो मैं था, इसीलिए ऐसा हो गया, या मैं उस समय सहयोग को आगे न आता तो पता चल जाता' जैसे वाक्यों के साथ एक तोण की भावना जुड़ जाती है। लेकिन बार-बार का ऐसा पुनरावर्तन सुनने वाले के लिए बहुत भारी भी बन जाता है।

नीति का सूत्र कहता है—'नेकी कर कुएं में डाल।' आपको अपनी विशिष्टताओं का बखान करने की जरूरत नहीं। यदि वास्तव में ही आप में विशिष्टताएं हैं तो वे बिना बोले ही लोगों के दिलोदिमाग में बोलेगी। इसीलिए अपेक्षा है प्रतिदान की आशा से मुक्त हो, अपना स्वभाव समझ सहयोग करें, न कि किसी पर उपकार का भार डालने के लिए, किसी को पालतू बनाने के लिए सहयोग करें।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जब किसी के सितारे बुलंद होते हैं तो सहयोग के सौ हाथ अनायास ही जुड़ जाते हैं और जब सितारे मंद होने लगते हैं तो अपने भी अजनबी बन जाते हैं। सहयोग के संदर्भ में समय की मांग महत्त्वपूर्ण होती है। यह नहीं कि जब आपका मन हुआ, तब सहयोग कर दिया। अपितु सहयोग का सूत्र यह है कि जब, जहां, जिसे जरूरत हो उसमें आप पीछे न हटें। नाम और यश के आवरण से लिपटा सहयोग कई बार मात्र औपचारिक बन जाता है, या प्रवंचनाभर बन कर रह जाता है। समय बीत जाता है, स्थितियां बदल जाती हैं, पर आवश्यकता के समय जिसने सहयोग से इंकार कर दिया, या किसी बहाने से हाथ खींच लिए तो दिमाग में अवधारित विश्वास का महल एकाएक भरभराकर गिर जाता है। व्यक्ति ऐसे प्रसंगों को सामान्यतया भूल नहीं पाता। सब व्यवहार निभाते हुए भी उन दिनों की भूलें व्यक्ति को सालती रहती हैं। और उस शल्य के कारण कई बार स्वस्थ वर्तमान भी त्रासदाई हो जाता है। अंतर्शल्य बड़ा पीड़ादाई होता है।

ऐसी विषम परिस्थिति से मुक्त होने और अपने वर्तमान को सुखकर बनाने का एक ही उपाय है कि व्यक्ति स्वार्थों से बने संबंधों को जाने और दूसरों द्वारा किए गए असहयोग के क्षणों को भूले। 'जैसे को तैसा' की भावना का रंचमात्र भी स्पर्श किए बिना अपनी अच्छाई को कायम रखे। 'अतीतं व्यतीतं' के साथ आगे बढ़े। अपमान के प्रसंगों को विस्मृत करे। मस्तिष्क के हल्केपन का यही सरल मार्ग है।

व्यक्ति अपने संदर्भ में एक अवधारणा बनाकर चलता है, उससे प्रतिकूल जैसे ही कोई व्यवहार होता है तो हृदय में शूल-सी चुभ जाती है। हर सहज मुस्कान प्रत्युत्तर में भी मुस्कान चाहती है, ऐसा नहीं होने से अपमान की लहर-सी उठती है और व्यक्ति तिलमिला जाता है। दूसरों पर आवश्यक-अनावश्यक रूप से छींटाकशी करने वालों की भी दुनिया में कमी नहीं है और उनसे प्रभावित हो बुरी तरह से हीन भावना की गिरफ्त में चले जाने वाले लोगों की भी दुनिया में कमी नहीं है। लेकिन, अपमान के प्रसंगों को स्मृति में संगृहीत करके व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का नुकसान करता है। अपनी क्षमताओं पर विराम लगाकर विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर लेता है। मनोविज्ञान तो यहां तक कहता है कि किसी के द्वारा किए गए अपमान को भूलने की योग्यता यदि किसी में नहीं है तो किसी न किसी अंश में आप उस अपमान के योग्य भी हैं। इसलिए अपनी क्षमताओं को कुंठित करने वाले अपमान के प्रसंगों को हर स्थिति में विस्मृत ही करना चाहिए। उन्हें भूलने में ही ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण संभव है। जिंदगी की कई नई दिशाएं स्थापित करने वाले कवि, नेता, होचीमिन्ह के ये शब्द सदैव एक शिलालेख पर लिखे अक्षरों जैसे हैं और पूरे वियतनाम की छाती पर उकेरे हुए हैं। अपनी कहानी में होचीमिन्ह कहते हैं कि मैं उन लोगों का शुक्रगुजार हूं, जिन्होंने अपनी ज्यादती का शिकार मुझे बनाया। हमें आज भी इनका धन्यवाद करना चाहिए, जिनके जुल्मों के कारण हम इस काबिल हो गए कि आज सख्ती से उन्हें उठाकर फेंकने का सामर्थ्य हम में है। मान-अपमान के प्रसंगों से ऊपर उठकर अपनी शक्ति को जानें, उपयोग करें। विकास के सभी रास्ते यहीं से निकलते हैं।

व्यक्ति अवधारणाओं के जगत में जीता है। दूसरे उसके बारे में क्या सोच रहे हैं, क्या कह रहे हैं इस प्रकार के चौखटों से वह अपनी तस्वीर बनाता है। लेकिन सबका अपना-अपना नजरिया होता है। उसमें सत्यांश तो हो सकता है, लेकिन उसी को संपूर्ण सत्य मान लेना एक तरह से अपने मूल स्वभाव-स्वरूप को भूल जाना है। दूसरों के विचारों के संदर्भ में अपनी समीक्षा तो की जा सकती है, लेकिन उसी सांचे में अपने आपको ढाल लेना परिस्थिति के हाथों कठपुतली बन जाने के सिवाय क्या हो सकता है!

'कौन क्या कहता है या सोचता है'—इसके आधार पर सजगता का पाठ तो पढ़ा जा सकता है, लेकिन उसी को स्वीकार कर अपनी अर्हता को भूल जाना अपने साथ सबसे बड़ा अन्याय होगा। 'सुनें सबकी—करें मन की'—इस चिंतन को सही दिशा प्रदान करने का प्रयास सजगता के साथ होना चाहिए। इसी में व्यक्ति की भलाई है।

हर वर्तमान अतीत के पैरों पर ही खड़ा होता है। कुछ प्रेरणा ग्रहण करने के लिए, कुछ सीखने के लिए अतीत के झरोखे में झांक लिया जाए, यह उचित है, लेकिन कई बार उसी को सर्वस्व मान व्यक्ति उसी में खोया रहता है। अपने ही अतीत को बार-बार दोहराने वाले व्यक्ति अक्सर अपने वर्तमान को शोकमय बना बैठते हैं। जबकि सबसे उत्तम क्षण वर्तमान ही होता है। सबसे उत्तम व्यक्ति वही है जो वर्तमान का सादर स्वागत करे और भविष्य को आशाओं का उपहार दे। टूट के गिरे सितारों की राख कोई नहीं देखता, चमकते हुए सितारों के सम्मोहन में ही सब वाह-वाह करते हुए जिंदगी जीते हैं। इसीलिए अतीत के अप्रिय प्रसंगों को स्मृति से निकाल फेंकना ही अच्छा है।

जीवन-समंदर में चलते रहने का नाम ही जिंदगी है। वर्तमान में जीते-जागते संकल्प ही असली संभावनाओं की आहट के संवाहक हैं।

मनुष्य हो और वह कभी कोई गलती न करे, यह स्थिति असंभव प्रतीत होती है। गलती किसी से भी संभव है। पर किसी के द्वारा की गई एक भूल को अपने दिमाग में रखने वाला व्यक्ति स्वयं बहुत बड़ी भूल करता है। अच्छाई को ध्यान में रखते हुए अच्छाई के लिए प्रोत्साहित करते हुए ही अच्छाई को बढ़ाया जा सकता है। धारणा की आंख से देखकर किसी व्यक्ति का सही व्यक्तित्व नहीं जान सकते। इसीलिए अपनी भूल सुधारते हुए औरों की भूलों को भूलने में ही फायदा है। गुरुदेव श्री तुलसी के शब्दों में—

'औरों की भूलों को भूलें, अपनी भूल सुधारें।
कभी न करता मैं गलती इस अहंवृत्ति को मारें।।'

शूलों को भूल, फूलों को बटोरें। तभी जिंदगी फूलों का गुलदस्ता बन सकती है।

जीवन का उद्देश्य केवल रोटी, कपड़ा और मकान ही नहीं है। असली उद्देश्य सत्यं, शिवं, सुंदरं की खोज है। केवल व्यवहार की सचाई ही संपूर्ण सचाई नहीं, निश्चय के साथ जुड़कर ही व्यवहार पूर्ण बन सकता है। अपने नैश्चयिक स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए अपने व्यवहार जगत को भी भूलना होता है।

अपने आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए इस दुनिया व दुनिया से जुड़े व्यवहारों को भी भूलना होगा? थोड़ा खोकर कुछ पाने की बात तभी व्यवहार्य बन पाएगी। ❖

स्वाधीन एवं स्वतंत्रचेता व्यक्ति ही शाश्वत जीवन-मूल्यों की खोज में संलग्न रहता है; उन वृहत्तर जीवन-मूल्यों की खोज में, जहां अन्याय का प्रतिरोध, न्याय, शांति, समता तथा पराई पीर में द्रवित होने के संबल का उपस्थापन होता है और इन्हीं के माध्यम से सत्य, प्रेम, करुणा, सहनशीलता, औदार्य और संवेदनशीलता जैसे गुणों का विकास होता है। यही गुण मानवता के संरक्षक होते हैं और इन्हीं गुणों के बंधनों में बंधा व्यक्ति स्वच्छंद एवं स्वतंत्र विचरने वाला होता है। ●

◆ डॉ. मदन सैनी

बंधनमुक्ति-पर्व

'स्वतंत्रता' के बारे में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

'नहीं चाहते हम धन-वैभव, नहीं चाहते हम अधिकार।
बस स्वतंत्र रहने दें हमको, और स्वतंत्र रहे संसार।।'

राष्ट्रकवि का नजरिया मानवमात्र की स्वच्छंद प्रकृति का ही परिचायक नहीं, अपितु वैश्विक परिदृश्य में भारतीय संस्कृति के उदात्त जीवन-मूल्यों के अनुरूप भी है और इसमें वसुधैव-कुटुंबकम् एवं विश्वबंधुत्व की भावनाओं का उपस्थापन भी है। हमारे यहां जीवात्मा को परमात्मा का अंश बताया गया है और परमात्मा को ब्रह्म कहा गया है, जो अपने आपमें समग्र है, पूर्ण है। जीव चूंकि उसी ब्रह्म का अंश है, अतः वह अपने आपको एक पूर्ण इकाई के रूप में देखता है और स्वयं भी ब्रह्म के समान स्वतंत्र, निर्भय एवं स्वच्छंद रहना चाहता है। वह किसी भी दशा में पराधीन नहीं रहना चाहता। यहां तक कि पशु-पक्षी भी स्वच्छंद विचरण पसंद करते हैं। ऐसी स्थिति में कवि का यह कथन कितना व्यंजनापूर्ण है कि 'हमें धन-वैभव अथवा किसी प्रभावशाली पद के अधिकारों की कोई कामना नहीं है, हमें तो सिर्फ स्वतंत्रता ही प्रिय है और हमें ही क्यों, हम तो चाहते हैं कि समस्त संसार स्वतंत्र रहे।'

कवि की इस औदात्यपूर्ण मनोकामना के पीछे 'जीओ और जीने दो' की उदार दृष्टि अवलोकनीय है। कवि के अंतर्मन में अंतर्निहित यह संदेश सभी के लिए स्वतंत्रतापूर्वक स्वच्छंद एवं सम्मानजनक जीवन जीने को अभिप्रेरित करता है। जन-जन के मन की इन्हीं भावनाओं को समझते हुए बाल गंगाधर तिलक ने नारा दिया था—'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।'

स्वाधीनता-आंदोलन के फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 की अर्द्धरात्रि को हमारा देश अंग्रेजों की दासता से स्वतंत्र हो गया, किंतु क्या सही अर्थों में हम स्वतंत्र हो पाए? यह आज भी विचारणीय है। 'स्वतंत्रता' का अर्थ आपाधापी या उच्छृंखलता नहीं है, अपितु रक्षा का बंधन है। स्वयं की रक्षा के साथ-साथ घर-परिवार और देश-समाज की रक्षा का व्रत ही सही अर्थों में स्वाधीनता का वाचक है। इतना ही नहीं, हमारी वैदिक संस्कृति में तो पेड़-पौधों तक की रक्षा करने के उल्लेख मिलते हैं। हमारे ऋषि-मुनि बड़े उदारचेता थे। वे पेड़ की लकड़ियां काटने से पूर्व उसकी पूजा करते थे और तने के रक्षा-सूत्र बांध देते थे तथा कामना करते थे कि अब पेड़ उनकी रक्षा करे और वे पेड़ की रक्षा करेंगे—इसके पीछे स्वयं के साथ-साथ प्रकृति की स्वाधीनता के भाव भी थे। प्राणी और प्रकृति का कैसा अन्योन्याश्रित संबंध था! किंतु यह उल्लेखनीय है कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् ऋषि को यदि पेड़ की कुछ शाखाओं की जरूरत भी पड़ती, तो वह पहले पेड़ की स्तुति करता और फिर अपनी विवशता प्रकट करते हुए कुछ शाखाएं काटने की अनुमति के साथ ही क्षमा-याचना भी कर लेता। इससे पेड़ कटने से बच जाता। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में खेत की सीमा पर खड़े वृक्षों को रक्षणीय माना जाता है। किसी भी पेड़ के धागा बांध देने से ग्रामवासी उसे पूज्यभाव से देखने लगते हैं और वह पेड़ कटने से बच जाता है।

संभवतः वैदिक युग से चला आ रहा यही रक्षा-सूत्र हमारे रक्षा-बंधन पर्व का भी आधार बना हो! आज जब भी कोई मांगलिक कार्य होता है, तो पंडित की कलाई पर रक्षा-सूत्र बांधा जाता है, तत्पश्चात् पंडित द्वारा घर के मुखिया आदि की कलाई पर भी रक्षा-सूत्र बांधे जाने के पीछे एक-दूसरे के प्रति रक्षणीय भावों की भाव-भूमि ही दिखाई देती है। वर्षा के बाद पहली बार खेत में हल जोतते किसान की कलाई और हल पर रक्षा-सूत्र बांधने की परंपरा और फिर हल जोतते वक्त किसान की ओर से सभी प्राणियों के उदरपोषण एवं प्राणरक्षा हेतु ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना के पीछे भी यही भावना है।

भारतीय संस्कृति में निहित इन्हीं उदात्त मानवीय जीवन-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो स्वतंत्रता अथवा स्वाधीनता अपने-आप में एक अपूर्व मुक्ति भी है और बंधन भी! बंधन से तात्पर्य मानवता के प्रति प्रतिबद्धता से है; धर्मानुकूल आचरण से है। धर्म ही परस्पर रक्षा कर पाने में सक्षम है—धर्मो रक्षति रक्षितः। धर्म ही हमें सही अर्थों में स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाने में समर्थ है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने नाना निगमागमों, पुराणों, उपनिषदों का अवगाहन करते हुए धर्म को समझने का उपक्रम किया और अंततः एक ही पंक्ति में धर्म की सारभूतता समाहित करते हुए कह दिया कि 'परहित सरिस धरम नहिं भाई।' अर्थात् दूसरे की भलाई करने से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। ठीक इसी प्रकार महर्षि वेदव्यास का कथन है—

'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनंद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।'

यानी समस्त शास्त्रों का यही सार है कि दूसरों का उपकार किया जाए, इससे बड़ा कोई पुण्य नहीं है और दूसरों को दुख पहुंचाने से बड़ा कोई पाप नहीं है, अतः मानवमात्र के लिए धर्म या कर्तव्य यही है, जिससे दूसरों का भला हो, उन्हें सुख मिले और वे सम्मानपूर्वक समाज में रहें। इसके पीछे यह बात भी विचारणीय है कि जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं, ठीक वैसा ही व्यवहार हमें दूसरों के साथ करना चाहिए। यदि हम ऐसा कर पाते हैं, तो सही अर्थों में हम स्वयं स्वतंत्रता का सुखोपभोग करते हुए सभी के लिए वैसा ही वातावरण निर्मित करने का कार्य भी करते हैं।

महात्मा गांधी का कहना था कि 'स्वतंत्रता प्राप्त करने का कार्य अधिक उत्तेजक और आकर्षक होने से उतना कष्टसाध्य नहीं है, जितना कि उसकी रक्षा करना।' गांधीजी की चिंता वस्तुतः सही थी, क्योंकि देश आजाद होने के बावजूद हम लोग न तो अंग्रेजी शासन के तौर-तरीकों से मुक्त हो पाए और न उनकी अंग्रेजियत मानसिकता से ही मुक्त हुए। ऐसी दशा में हम सही अर्थों में कितने और कहां तक स्वतंत्र हो पाए हैं? इस प्रश्न का जवाब किसके पास है? गांधीजी के विचार से स्वतंत्रता कोई नकारात्मक वस्तु नहीं है और गुलामी का न होना ही आजादी नहीं है। वे पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता के भी पक्षधर थे। उन्होंने कहा कि 'स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय में किसी को गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रण से मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है।' लेकिन आजादी की स्वर्णजयंती के बावजूद अभी तक हम आर्थिक रूप से कितने आत्मनिर्भर या स्वतंत्र हो पाए हैं?

स्वतंत्रता के साथ ही हमारे यहां प्रजातंत्र का सूत्रपात हुआ, लेकिन हमारे चुने हुए जन-प्रतिनिधि नए राजा-महाराजाओं एवं सामंतों के रूप में परिणत होते चले गए और नतीजा वही ढाक के तीन पात! एक जगह गांधीजी लिखते हैं—'प्रजातंत्र का अर्थ मैं यह समझता हूं कि इस तंत्र में नीचे से नीचे और ऊंचे से ऊंचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलना चाहिए और यह तभी संभव है, जब सत्ता का विकेंद्रीकरण कर उसे समाज की अंतिम इकाई गांव तक और व्यक्ति तक पहुंचाया जाए।'

गांधीजी की दृष्टि में स्वतंत्रता का केंद्रबिंदु व्यक्ति था। वे शासन की स्वतंत्रता के नहीं, अपितु व्यक्ति की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता के समर्थक थे। उनके विचार में व्यक्ति को स्वतंत्रता के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए और सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए निरंतर प्रयत्न करना चाहिए, भले ही वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो अथवा स्वदेशी सरकार का। आजाद भारत में समाजवादी समाज-रचना का सपना देखने वाले गांधीजी का कहना था कि अब हमारे देश में यह नहीं होना चाहिए कि मुट्ठीभर धनी लोग तो रत्नजड़ित प्रासादों में रहें और शेष प्रकाशरहित कोठरियों में पशुओं का-सा जीवन बिताएं। स्वराज्य जितना किसी राजा के लिए होगा, उतना ही किसान के लिए; जितना एक हिंदू के लिए होगा, उतना ही मुसलमान के लिए और जितना जैन, यहूदी व सिख के लिए होगा, उतना ही पारसी और ईसाई के लिए भी होगा। उसमें जाति-पांति, धर्म या भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि परतंत्र भारत में महात्मा गांधी सदैव स्वतंत्रतापूर्वक रहे, किंतु देश की स्वतंत्रता न केवल उन्हें, अपितु उनके आदर्शों तक को लील गई और आज हम पुनः आत्ममूल्यांकन करने के लिए बाध्य

हैं। क्या 'स्वतंत्रता-दिवस' और 'रक्षा-बंधन' को हम सम्मिलित रूप में 'बंधनमुक्ति-पर्व' नहीं कह सकते? क्योंकि स्वाधीन एवं स्वतंत्रचेता व्यक्ति ही शाश्वत जीवन-मूल्यों की खोज में संलग्न रहता है; उन वृहत्तर जीवन-मूल्यों की खोज में, जहां अन्याय का प्रतिरोध, न्याय, शांति, समता तथा पराई पीर में द्रवित होने के संबल का उपस्थापन होता है और इन्हीं के माध्यम से सत्य, प्रेम, करुणा, सहनशीलता, औदार्य और संवेदनशीलता जैसे गुणों का विकास होता है। यही गुण मानवता के संरक्षक होते हैं और इन्हीं गुणों के बंधनों में बंधा व्यक्ति स्वच्छंद एवं स्वतंत्र विचरने वाला होता है। स्वतंत्रता-दिवस के अवसर पर देशवासियों के हृदय में ऐसे ही भाव-सुमनों की सौरभ प्रस्फुटित होकर दिक्काल को सुवासित करने लगे, तभी यह कहा जा सकता है कि हम अपने देश की स्वतंत्रता के लिए सही मायने में प्रतिबद्ध हैं और इस प्रतिबद्धता के बंधन-सूत्र अथवा धागे रक्षा-बंधन के रूप में हमारे मन-प्राणों में रचे-बसे हैं। यही बोध बंधनमुक्ति है। स्वतंत्रता की रक्षा के भाव इसी में अंतर्निहित हैं। इन भावों की अनुस्मृति ही इन पर्वों की प्राणशक्ति है। यही अनुस्मरण, आत्मचिंतन एवं स्वाधीन स्वातंत्र्यबोध स्वतंत्रता-दिवस या रक्षा-बंधन जैसे पर्वों को सार्थक बनाता है।

रक्षा-बंधन से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख भी हमारे इतिहास-पुराणादि ग्रंथों में मिलते हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के अनुसार तो लंका का राजा रावण रक्ष-संस्कृति का संवाहक एवं संरक्षक था। वह न केवल प्रकांड विद्वान था, अपितु तंत्र-मंत्र एवं विज्ञान में सिद्धहस्त था। 'वयं रक्षामः' अर्थात् हम रक्षक हैं—का उद्घोष करने वाला रावण ब्राह्मण-पुत्र होते हुए भी राक्षसों की संस्कृति की रक्षा करने हेतु कटिबद्ध रहा था। रक्षा करने वाले अर्थात् रक्षक ही राक्षस कहलाने लगे थे, रक्षक को क्षत्रिय भी कह सकते हैं। क्षत्रिय ही प्रजा एवं देश की रक्षा के वचनों से बंधे होते हैं, अतः राज-तिलक आदि के अवसर पर प्रजा की ओर से पुरोहित राजाओं के रक्षा-सूत्र बांध दिया करते थे। राजस्थान में सावन के महीने में कुछ लोग पूर्णिमा के दिन और कुछ लोग भादवा सुदी पंचमी (संवत्सरी) को रक्षा-बंधन पर्व के रूप में मनाते हैं। उल्लेखनीय है कि अवसर विशेष पर बहनें अपने भाइयों की कलाइयों पर रक्षा-सूत्र बांधकर मदद मांगती थी और भाई उनकी सहायता करते थे। ऐतिहासिक सत्य है कि रानी कर्मावती द्वारा मुगल सम्राट हुमायूं को सहायतार्थ भिजवाई गई राखी (रक्षा-सूत्र) की भावनाओं के बारे में जब हुमायूं को पता चला तो वह रानी की सहायता हेतु सेना लेकर आया था! इससे ज्ञात होता है कि रक्षा-बंधन जाति-पांति से ऊपर उठकर विश्वबंधुत्व की भावनाओं को बल देने वाला पर्व है।

आज यदि बंधनमुक्ति के इन पावन पर्वों पर हम यह संकल्प लें कि हम यथासंभव 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके हितार्थ प्राण-पण से कार्य करेंगे और सबके हित में ही अपना हित देखेंगे, तो न केवल हम स्वतंत्रतापूर्वक सम्मानित जीवन ही जीएंगे, अपितु एक-दूसरे की रक्षार्थ भी सदैव सन्नद्ध रहेंगे। ऐसे में एक सुंदर समाज-रचना के हम सभी हेतु बनेंगे, जहां सबको समान रूप से अपने जीवन-विकास के अनुकूल अवसर उपलब्ध होंगे और जनतंत्र को अधिकाधिक जनाधार मिलेगा। ❖

नैतिक मूल्य

हितकारी और अहितकारी की संकल्पनाएं अनूठे रूप में सामाजिक हैं क्योंकि वे किसी समुदाय के अपने सदस्यों के प्रति निर्णय को दर्शाती हैं। वही उन्हें सराहना या धिक्कार का पात्र बनाते हैं। 'हित' को केवल इस रूप में परिभाषित करना कि वह लोकजन की भलाई में योगदान देता है, सरलीकृत लगता है। लेकिन, फिर भी इससे अच्छी अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है? व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर पर लाभ और इनके योग द्वारा बनाए गए समुदाय की उन्नति—इन दोनों के बीच एक पैना अंतर है। जब निजी और लोकजन के हितों में टकराव होता है तो निजी हित बुरा है क्योंकि वह समाज में अहितकारी प्रभाव डालता है। इन मामलों में मूल्यांकन बेशक समुदाय की तरफदारी करता है। दूसरी ओर, अगर कोई समाज की संपन्नता को प्राथमिकता देता है, तो उसका इस तरह अपने जीवन को एक विशाल जीवन के लिए अर्पित कर देना उसे सद्गुणी होने का मान देता है।

—त्सुनेसाबुरो माकीगुची

जैन आचार में ऐसे अनेक सूत्र हैं जो महावीर की स्वातंत्र्य चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब भी कोई शिष्य, श्रमण या श्रमणोपासक उनके पास किसी भी प्रकार की अनुज्ञा अथवा निर्देश प्राप्त करने हेतु प्रस्तुत होता, वे उसे बाध्य नहीं करते। यदि वह अध्यात्मपथ के अनुकूल होती, वे 'अहासुहं देवाणुप्पिया!' कह उसके प्रति अनुमोदना की अभिव्यक्ति देते और प्रतिकूल होने पर मौन से अस्वीकृति सूचित कर देते। ●

◆ साध्वी श्रुतयशा

स्वातंत्र्य चेतना : जैन चिंतन

प्रत्येक प्राणी स्वतंत्रता चाहता है। बंधनमुक्ति चाहता है। परतंत्रता किसी को प्रिय नहीं। एक पक्षी जब मुक्त गगन में विहरण करता है। उसकी प्रसन्नता आकाश के ही समान अंतहीन होती है। चाहे उसे दाना मिले या न मिले, पानी मिले या प्यासा रहना पड़े, रहने को कोटर या पेड़ की डाली, वह जी-भर गगन-विहार की स्वतंत्रता का उपयोग कर लेना चाहता है। दूसरी ओर एक पक्षी जिसे रहने के लिए सोने का पिंजरा और मखमली आस्तरण प्राप्त है, खाने को दाख और छुहारा सोने-चांदी के कटोरे में मिलता है, सारी सुविधाएं और स्वामी का स्नेहपूर्ण आश्वासन है फिर भी उदास दिखाई देता है। इसीलिए सुख और दुख की एक संक्षिप्त किंतु मार्मिक परिभाषा की गई—सर्वमात्मवशं सुखं, सर्वं परवशं दुःखम्।

जैन दर्शन का आत्मवाद स्वतंत्रता का प्रबल प्रतिष्ठापक है। श्रमण भगवान महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, आत्म-चेतना एवं उसके अस्तित्व को प्रदीप्त एवं प्रज्वलित रखने का एक ऐसा वातावरण प्रदान किया कि वह स्वयं के सहारे खड़ा हो। वैसाखियों के सहारे लंगड़ाते हुए चलने को महावीर ने कभी प्रोत्साहित नहीं किया।

जैन दर्शन अनीश्वरवादी नहीं। पर वह उस सर्वशक्तिमान ईश्वर का कभी समर्थक नहीं जो कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं में समर्थ हो। वह उस ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता जिसमें सारे जीवों का अस्तित्व लीन या विलीन हो जाए। जैन दर्शन का ईश्वर अहिंसा और स्वतंत्रता की चरम परिणति है जहां हस्तक्षेप का कोई अवकाश नहीं। यह वह परम स्वाधीनता की स्थिति है जहां न ईश्वर किसी के उत्थान या पतन का, पुण्य या पाप का, कृत्य अथवा अकृत्य का दायित्व वहन करता है और न ईश्वर के अस्तित्व में किसी जीवात्मा का हस्तक्षेप संभव है। सामान्यतः ईश्वर सर्वशक्तिमान माना जाता है, कोई उसका कुछ बिगाड़ सके यह संभव नहीं। सृष्टि का एक पत्ता भी उस सर्वनियंता की आज्ञा अथवा इच्छा का उल्लंघन या प्रतिरोध नहीं कर सकता। जैन दर्शन में सारे सिद्ध परमात्मा हैं, परम ऐश्वर्य संपन्न होने के कारण परमेश्वर हैं, पर वे सर्वनियंता नहीं।

जैन दर्शन सदेह ईश्वर का भी प्रतिपादन करता है जिसका पारिभाषिक नाम है—तीर्थंकर। वे अध्यात्म जगत के चक्रवर्ती होते हैं। अनंत चक्षु एवं दिग्विजयी सम्राट से भी अधिक शक्तिशाली अर्थात् अनंतवीर्य। पर वे किसी को बाध्य नहीं करते। प्राणीमात्र को धर्म का मार्ग दिखाते हैं, प्रज्ञा का चक्षु प्रदान करते हैं, उन्नति के मार्ग पर चलने को तत्पर हर आत्मा के कुशल सारथ्य का दायित्व वहन करते हैं, तीर्थ प्रदान करते हैं पर बलप्रयोग नहीं करते। उचित मार्ग पर चलने के लिए भी बाध्य नहीं करते, क्योंकि बाध्यता आत्म-उन्नति नहीं, आत्महनन है। चेतना की स्वतंत्रता का हनन न अहिंसा हो सकती है और न करुणा।

जैन दर्शन ने अस्तित्व के स्तर पर भी आत्म स्वातंत्र्य को प्रतिष्ठापित किया। छोटे से छोटा प्राणी भी अपना पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। षड्जीवनिकाय का प्रतिपादन करते हुए महावीर ने पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजसकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक समस्त जीव जगत को 'पुढो सत्ता' का प्रज्ञापन किया। प्रत्येक जीव की अपनी अनुभव क्षमता है, अपना-अपना पुण्य-पाप है, अपना अध्यवसाय एवं आभामंडल है अपना-अपना कर्मशरीर है। आत्मस्वातंत्र्य का उत्कृष्ट निदर्शन है—निगोद का सिद्धांत। जहां एक सूई की नोक टिके, उतने-से क्षेत्र में रहने वाली अनंत आत्माएं भी अपनी चेतना कर्म-शरीर और

विद्युत-शरीर की अपेक्षा से स्वतंत्र ही रहती हैं, एक दूसरे में विलीन नहीं हो जातीं।

वैचारिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन करते हुए जैन दर्शन ने अनेकांत और नय का सिद्धांत प्रदान किया। वस्तु जगत अनंत विरोधी युगलात्मक है और हमारी ज्ञान क्षमता आवृत्त है, अतः सीमित है। परिणामतः हम आंशिक सत्य का ही ज्ञान कर पाते हैं। वाणी और शब्द की भी सीमा है अतः कथन भी सीमित सत्य का ही संभव है। इसीलिए सत्य पर किसी का एकाधिकार नहीं। अपितु महावीर ने तो यहां तक कह दिया कि सत्य की ठेकेदारी उसे असत्य बना देती है। एक नय तभी तक सुनय है जब तक वह अपने विरोधी नय के अस्तित्व का अपलाप नहीं करता।

जैन आचार में ऐसे अनेक सूत्र हैं जो महावीर की स्वातंत्र्य चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब भी कोई शिष्य, श्रमण या श्रमणोपासक उनके पास किसी भी प्रकार की अनुज्ञा अथवा निर्देश प्राप्त करने हेतु प्रस्तुत होता, वे उसे बाध्य नहीं करते। यदि वह अध्यात्मपथ के अनुकूल होती, वे 'अहासुहं देवाणुप्पिया!' कह उसके प्रति अनुमोदना की अभिव्यक्ति देते और प्रतिकूल होने पर मौन से अस्वीकृति सूचित कर देते।

संघीय साधना पद्धति में भगवान महावीर ने दस सामाचारियों में इच्छाकार सामाचार का प्रावधान दिया। आचार्य अथवा कोई साधु अपने शिष्य अथवा गुरुभाई से किसी प्रकार का सहयोग लेना चाहे, वह उसे बाध्य न करे, सहयोग देने के लिए दबाव न डाले, अपितु अपनी अपेक्षा को सूचित करे तथा मधुर स्वर से पूछे कि यदि आपकी इच्छा हो तो कृपया यह कार्य करें।

जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा को अपनी अर्हता का पूर्ण विकास करने की स्वतंत्रता प्राप्त है; यदि आचरण पवित्र हो, अध्यवसाय शुभ हो, अपने आवेगों एवं संवेगों पर नियंत्रण कर सके तो चाहे वह किसी भी लिंग का हो, वेश अथवा देश का हो, तीर्थंकर के उपदेश से प्रेरित होकर साधनापथ स्वीकार किया हो या स्वतः अपनी अंतःप्रेरणा से; बंधनमुक्ति का पूरा अधिकार है। जहां अन्य धर्मसंप्रदायों में 'मामेकं शरणं व्रज' को मुक्ति का उपाय बताया जाता है वहां जैन दर्शन गृहस्थ वेश एवं अन्य संप्रदायों में दीक्षित साधक को भी मुक्ति की स्वीकृति देता है। महावीर ने असोच्चा केवली के रूप में उन साधकों को आत्मोन्नति की स्वीकृति प्रदान की जिन्हें न धर्म के विधि-विधानों का ज्ञान होता, न पूजा अनुष्ठानों का, न वे विविध ग्रंथों के अध्येता होते और न परिभाषाओं के व्याख्याता। आत्मा की निर्मलता के लिए राग-द्वेष से मुक्ति को ही मुख्यता देकर जैनमत में चेतना की स्वतंत्रता का सर्वोत्कृष्ट मूल्य स्वीकार किया गया है। ❖

पराई चोट की अनुभूति

नामदेव नाम के एक बड़े संत थे। उनके दिल में बड़ी दया थी। एक दिन उनकी मां ने कहा, 'बेटा, दवा के लिए थोड़ी-सी ढाक की छाल ले आ।'

नामदेव गए और थोड़ी देर में छाल लेकर आ गए।

इस बात को कई दिन बीत गए। एक दिन नामदेव की मां ने देखा कि उसके बेटे की धोती में खून लगा है। उसने पूछा, 'क्यों रे, यह खून कहां से आया?'

नामदेव चुप।

मां ने फिर कहा, 'अरे, बोलता क्यों नहीं!'

नामदेव ने धीरे-से मुंह खोला, बोले, 'मां, उस दिन तुमने ढाक की छाल मंगवाई थी न! मैंने जब पेड़ को काटा तो मुझे लगा कि यह पेड़ तो बोलता नहीं है, देखें, काटने पर इसको कैसा लगता होगा। सो मैंने अपनी टांग छील डाली।'

मां का दिल उमड़ आया। उसकी आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे।

—यशपाल जैन

आखिर बहुत देर इंतजार करने के बाद नेवला आता हुआ दीख पड़ा। वह बहुत धीरे-धीरे, झूमता हुआ चला आ रहा था। उसके मुंह पर खून लगा हुआ था। स्पष्ट था कि वह शिकार करके आ रहा है और उसके पेट की टंकी ऊपर तक भरी हुई है। सांप ने सोचा कि नेवले के सम्मुख जाने का यही उपयुक्त अवसर है। जब नेवला नजदीक आ गया तो सांप साहस के साथ उसके पास पहुंचा। ●

◆ श्रीकृष्ण

सांप और नेवला

सृष्टि के आदिकाल की बात है। कहते हैं उन दिनों सांप आजकल की तरह विषधर और भयानक नहीं होते थे, बल्कि नेवला अत्यंत विषैला होता था।

बताते हैं कि नेवले के पास विष की एक पोटली थी जिसे मुंह में रखकर जब वह किसी जीव को काटता था, तो विष के असर से उसकी तुरंत मृत्यु हो जाती थी। मनुष्य-जाति का तो मानो वह सबसे बड़ा शत्रु था। यही कारण था कि उन दिनों मनुष्य नेवले से बहुत डरते थे।

नेवले के काटने से जब अनेक मनुष्य नित्य मरने लगे तो अंत में जंगल के सभी जीवों ने मिलकर नदी-तट पर यह विचार करने के लिए एक बहुत बड़ी पंचायत की कि मनुष्य-जाति का विनाश होने से कैसे रोका जाए?

लकड़बग्घे ने कहा, 'नेवला बहुत खूंख्वार हो उठा है। उसके जुल्म अब बर्दाश्त से बाहर हो गए हैं। यदि वह इसी तरह निर्दयता से मनुष्यों का संहार करता रहा तो दूसरी कई जातियों की तरह जल्दी ही एक दिन पृथ्वी पर से मनुष्य-जाति का भी अंत हो जाएगा।'

कंगारू ने कहा, 'मनुष्य हमारा मित्र ही नहीं, हम सब एक ही पिता की संतान होने के नाते वह हमारा भाई भी है। भाई के दुर्दिनों में उसके काम आना भाइयों का धर्म है।'

गाय ने कहा, 'फिर मनुष्य-जाति के हम पर अनेक उपकार भी हैं। जैसे भी हो, हमें उसका विनाश होने से रोकना चाहिए।'

जिराफ ने कहा, 'मेरा विचार है कि यदि हम सब मिलकर, मनुष्यों का पक्ष लेकर नेवले से लड़ें तो कोई कारण नहीं कि जीत हमारी ही न हो।'

हाथी ने कहा, 'यह तो आप ही मौत को दावत देना हुआ। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नेवले के पास विष की पोटली है। जो भी उसके नजदीक जाएगा, वह उसी को अपने विष से मार डालेगा। मिलकर लड़ने की आवश्यकता तो तब थी, जब शत्रु ताकत अथवा बल में बढ़ा-चढ़ा होता। लेकिन ऐसी बात तो है नहीं। जहां तक ताकत का सवाल है, मैं अकेला ही उसे कुचल सकता हूं।'

इसी तरह सभा में उपस्थित भिन्न-भिन्न जानवरों ने मनुष्य की सहानुभूति में कुछ न कुछ कहा और नेवले के अत्याचारों की निंदा की। सभी मन से चाहते थे कि मनुष्य-जाति की नेवले से रक्षा होनी चाहिए, लेकिन समस्या थी कि कैसे? नेवले को अत्याचार करने से कैसे रोका जाए?

अंत में जब सभा बिना किसी निश्चय पर पहुंचे ही उठने लगी तो सहसा काले सांप ने आगे जाकर कहा, 'मैं मनुष्य-जाति की नेवले से रक्षा करूंगा।'

सब आश्चर्य में पड़ गए।

'छोटे मुंह, बड़ी बात!' सभा में एक आवाज सुनाई पड़ी।

'अब तो चींटी के भी पर निकलने लगे!' दूसरी आवाज गूंजी।

सांप ने कहा, 'भाइयो, मैं शेखी नहीं बघार रहा। मेरी बात आप मजाक में न उड़ाएं। देख लेना, कल सूरज छिपने से पहले ही मैं नेवले से उसके विष की पोटली ले लूंगा।'

'सूरज छिपने के पहले ही तुम नेवले के विष से मर जाओगे! जो कोई भी उससे लड़ता है, उसकी मृत्यु हो जाती है।' सभी ने सांप को समझाया।

सांप ने कहा, 'मैंने यह कब कहा कि मैं नेवले से लड़ूंगा? क्या लड़ने के अलावा विजय पाने का और कोई उपाय नहीं है? लड़ने वालों को मरने दो। मैं लड़ूंगा नहीं। मैं उसे चालाकी से वश में करूंगा। मुझे अपनी बुद्धि पर भरोसा है और मैं विजय प्राप्त करके रहूंगा। कल दिन ढलने तक मैं नेवले का सर्वनाश कर दूंगा और जीवित ही उससे विष की पोटली ले लूंगा।'

सांप ने जोश में आकर उस समय सभा में कह तो दिया लेकिन अब वह उपाय सोचने लगा कि किस प्रकार नेवले पर विजय प्राप्त करे! यह तो उसने समझ लिया था कि बिना कपट और धूर्तता का सहारा लिए काम नहीं बनेगा।

सांप ने निश्चय किया कि वह नेवले से उसके भरपेट भोजन कर लेने के बाद ही मिलेगा। उसने सुन रखा था कि भूखा शत्रु ज्यादा खतरनाक होता है।

इसलिए वह आहिस्ता-आहिस्ता सरककर नेवले के बिल के पास जा छिपा और उसके खा-पीकर लौटने की प्रतीक्षा करने लगा।

आखिर बहुत देर इंतजार करने के बाद नेवला आता हुआ दीख पड़ा। वह बहुत धीरे-धीरे, झूमता हुआ चला आ रहा था। उसके मुंह पर खून लगा हुआ था। स्पष्ट था कि वह शिकार करके आ रहा है और उसके पेट की टंकी ऊपर तक भरी हुई है। सांप ने सोचा कि नेवले के सम्मुख जाने का यही उपयुक्त अवसर है। जब नेवला नजदीक आ गया तो सांप साहस के साथ उसके पास पहुंचा।

नेवले की जो सांप पर नजर पड़ी तो वह गुर्राकर बोला, 'मूर्ख, जान पड़ता है कि तेरी मौत तुझे यहां खींच लाई है। तेरी इतनी हिम्मत कि मेरा रास्ता रोककर खड़ा हो। ठहर, मैं तुझे अभी ठिकाने लगाता हूं।' और यह कहकर वह सांप पर आक्रमण करने के लिए झपटा।

सांप ने चिल्लाकर कहा, 'जरा रुको। यदि तुम मुझे मार डालोगे तो उस बात को न सुन सकोगे जो मैं तुम्हें बताने आया हूं। तुम्हारे विरुद्ध षड्यंत्र रचा जा रहा है।'

नेवले ने पूछा, 'कैसा षड्यंत्र?'

सांप—'जंगल के सब जानवर तुमसे जलते हैं। तुम्हारी बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर उन्होंने मिलकर तुम्हारे प्राण लेने की योजना बनाई है।'

नेवले ने कहा, 'मुझे किसी से कुछ भय नहीं है। मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। न जाने कितने मनुष्यों को अब तक मैंने मार डाला है और वे मुझसे भयभीत रहते हैं। जंगल के अन्य पशु भी मुझे देखते ही भय से कांपने लगते हैं।'

सांप बोला, 'तुम ठीक कहते हो। लेकिन तुम अकेले हो, और वे सब परस्पर मिल गए हैं। कहावत है कि दो तो मिट्टी के भी खतरनाक होते हैं। यदि तुम उनके षड्यंत्र के बारे में जानते हो तब तो डरने की कोई जरूरत नहीं, पर अगर तुम्हें उसके बारे में पता नहीं है तब तुम किसी भी क्षण मुसीबत में पड़ सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें उनके षड्यंत्रों से खबरदार करने आया था, पर तुम हो कि अपना भला चाहने वाले की ही जान ले लेना चाहते हो!'

नेवले ने कहा, 'मुझसे भूल हुई। पर अब मैं तुम्हें नहीं मारूंगा। मैं तुम्हें अभयदान देता हूं। अब तुम मुझे उस षड्यंत्र के बारे में बताओ, जो जंगल के जानवरों ने मुझे मारने के लिए रचा है।'

सांप ने कहा, 'नहीं, मैं नहीं बताऊंगा। मुझे अब तुम पर विश्वास नहीं रहा। मैं तो तुम्हें जीवन-रक्षा का उपाय बताऊं और तुम मुझे डस ही लो, तुम्हारा क्या भरोसा! तुम्हारे पास है जहर की पोटली।'

सांप की बातों से नेवले के मन में अब सचमुच डर समा गया था। बोला, 'फिर तुम्हीं बताओ, तुम्हें किस तरह विश्वास आएगा? जिससे तुम अपने को अभय समझो, मैं वही करने का प्रयत्न करूंगा।'

'केवल एक ही उपाय है।' सांप ने चालाकी से कहा, 'तुम अपनी विष की थैली मुंह से बाहर निकालकर रख दो। तभी मैं अपने को सुरक्षित समझूंगा और तभी मैं यह बतला सकता हूं कि जंगल के प्राणियों ने सभा करके तुम्हारे विरुद्ध कौन-सा षड्यंत्र रचा है?'

नेवले ने तिलमिलाकर कहा, 'यह असंभव है!'

'यह असंभव है तो फिर मुझसे रहस्य की बात जानना भी संभव नहीं है।' सांप भी रुष्ट हो गया, 'मैं जा रहा हूं।' और इतना कहकर वह चलने का अभिनय कर मुड़ पड़ा।

अब तो नेवले की बेचैनी बढ़ गई। अवश्य कोई गंभीर बात है, उसने सोचा, पता नहीं जंगल के सब जानवरों ने मिलकर मेरे विरुद्ध क्या षड्यंत्र रचा हो! कहीं सचमुच ही मैं किसी मुसीबत में न पड़ जाऊं!

अब तक सांप कुछ दूर चला गया था। नेवले ने उसे रोका, 'रुको-रुको! बिना षड्यंत्र के बारे में जाने मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा।'

सांप—'जरूर जानो, पर पहले जहर की थैली मुंह में से निकालकर नीचे रख दो।'

अंत में विवश होकर नेवले ने विष की पोटली अपने मुंह में से निकालकर धरती पर सांप के निकट रख दी और कहा, 'अब तो मुझे षड्यंत्र के बारे में बताओगे?'

सांप तो बहुत देर से इसी अवसर की ताक में था। ज्यों ही नेवले ने विष की पोटली नीचे रखी, उसने एकदम लपककर उसे अपने मुंह में रख लिया और बोला, 'मेरे प्यारे दोस्त, यही षड्यंत्र तो तुम्हारे खिलाफ था। तुम मनुष्यों को काट-काटकर उनका विनाश न कर सको, इसलिए सब जानवरों ने सभा करके तय किया था कि किसी तरह तुमसे तुम्हारी जहर की पोटली छीन ली जाए और इस काम के लिए उन्होंने मुझे भेजा था। मैं लड़कर तो तुमसे जीत नहीं सकता था क्योंकि तब तुम मुझे अपने जहर से मार डालते। इसलिए मुझे छल की शरण लेनी पड़ी और छल द्वारा ही मैं विष की पोटली तुमसे लेने में समर्थ हुआ हूं। अब तुम कितने ही उछलो-कूदो और लाल-पीले हो, मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।' और यह कह सांप चला गया।

जब जंगल के अन्य जानवरों ने जाना कि सांप ने जो कहा था, वह कर दिखाया तो उन्होंने उसकी बुद्धि की बहुत प्रशंसा की। फिर बोले, 'अच्छा, अब विष की पोटली दे दो ताकि हम उसे नष्ट कर दें।'

पर सांप ने उत्तर दिया, 'ऐसा मैं क्यों करूं? मैंने इसे अपनी बुद्धिमानी से प्राप्त किया है। अब मैं इसे अपने पास ही रखूंगा।'

आस्ट्रेलिया के लोगों का विश्वास है कि बस उसी दिन से सांप विषैला बन गया, जिसके काटने से मृत्यु हो जाती है। और तभी से नेवले में जहर नहीं है और वह मनुष्यों को हानि नहीं पहुंचा पाता। अब मनुष्य नेवले से नहीं, सांप से भयभीत रहते हैं।

नेवले और सांप में शत्रुता का भी यही कारण है। नेवला अब भी इसी कोशिश में है कि वह विष की पोटली सांप से वापस ले ले। इसलिए जब भी दोनों मिलते हैं तो एक-दूसरे से लड़ने लगते हैं। सांप के पास विष होते हुए भी वह नेवले को नहीं मार पाता। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि विष की पोटली पहले नेवले के पास थी इसलिए सांप का विष उस पर असर नहीं कर पाता। दूसरा कारण यह है कि नेवला वैद्य भी है। विष को दूर करने की जड़ी को वह पहचानता है। लड़ाई में सांप ज्यों ही उसे काटता है, वह शीघ्र ही उस जड़ी को सूंघ लेता है, जिससे सांप के विष का उस पर असर नहीं होता। पुराने वैमनस्य के कारण ही आज भी सांप और नेवले में लड़ाई चली आ रही है। ❖

योग्यता

दूसरे व्यक्ति हमारी योग्यता की परख जो कुछ हम कह या कर चुके हैं, उसके आधार पर करते हैं, जबकि हम अपनी परख उससे करते हैं, जो कुछ करने की हममें सामर्थ्य है।

—लांगफेलो

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के मई, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के मई अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 सितम्बर, 2000 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम अक्टूबर, 2000 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

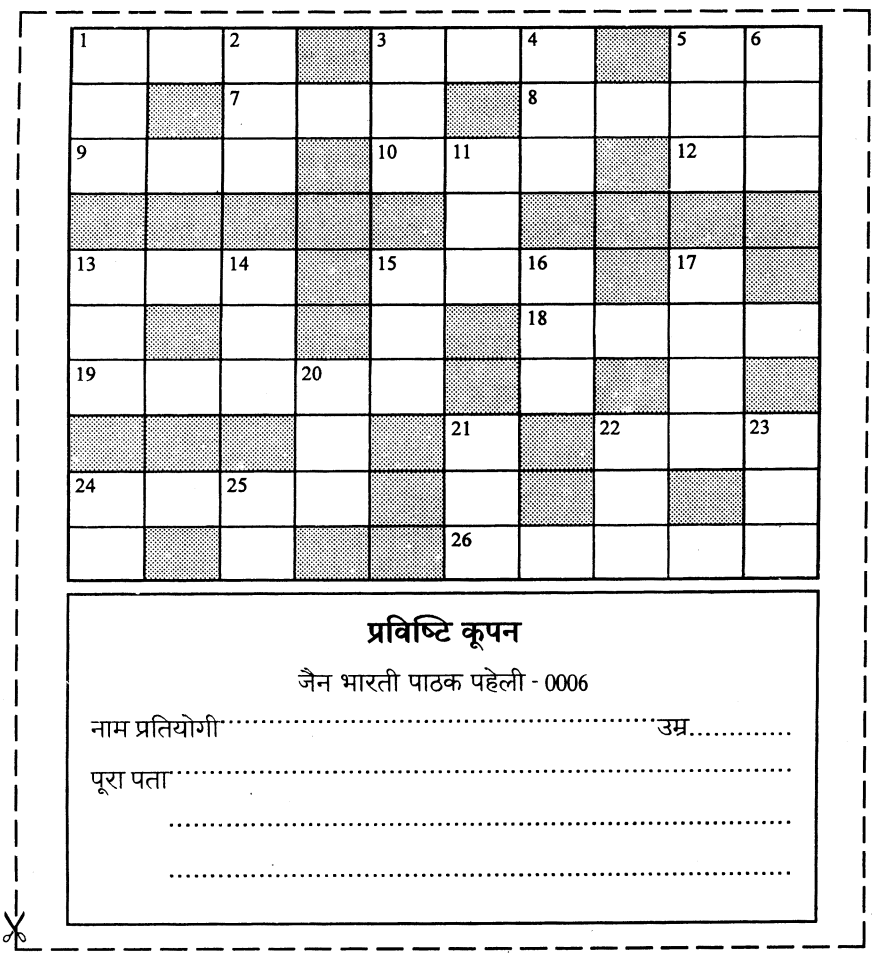

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0006

नाम प्रतियोगी.....उम्र.....

पूरा पता.....

.....

.....

बाएं से दाएं

1. वायु का एक प्रकार। [3]
3. प्रीति-प्रतीति दर अस्ल मनुष्य का.....का स्वभाव है। [3]
5. .....बहुत दिनों से बीमार है। [2]
7. मैंने अक्सर यह धारणा प्रचलित पाई है कि.....के हिसाब भ्रमात्मक होते हैं। [3]
8. जो.....आचार्य ग्लान की रोगी मुनि की चिकित्सा नहीं जानते। [4]
9. लोभ द्वेष.....और क्रोध इत्यादि वेगों को रोकें। [3]
10. पर्व किसी भी.....से मनाया जाए। [3]
12. धार्मिकता के साथ बुद्धि की.....करें। [2]
13. आपकी.....निखरी हुई है। [3]
15. आसक्ति से.....उत्पन्न होती है। [3]
18. जिन्हें.....से उपमित किया जा सकता है। [4]
19. .....इन जीवनादर्शों को दैनंदिन जीवन में हम स्वयं कितनी बार खंडित करते हैं। [5]
22. वह मानव.....के पूरे इतिहास में अनुपम है। [3]
24. द्रव्यादेश क्षेत्रादेश.....और भावादेश। [4]
26. साथ ही.....स्तर पर उसके संपूर्ण अस्वीकार की अहिंसक तैयारी। [5]

ऊपर से नीचे

1. जिसमें अन्याय के प्रतिरोध की.....क्षमता निहित होती है। [3]
2. उसे जैसे ही पता चलता कि फलां.....के सैनिक उसको पकड़ने के लिए निकले हुए हैं। [3]
3. इस ईश्वरमय सृष्टि की सेवा की.....प्रेरणा प्रदान करता है। [3]
4. इधर चमार भी अपनी.....से जल में उतरा। [3]
5. इस.....पर सारे कार्यों का निर्णय करना चाहिए। [3]
6. गुरु की.....तो होनी ही चाहिए। [3]
11. 'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय' किसके वाक्य? [3]
13. प्राण एक विद्युत है, ऊर्जा है, शक्ति का.....है। [3]
14. उसे ठंड लग गई है या वह.....हो उठा है। [3]
15. इस संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए एक.....बना दिया गया है। [3]
16. हाथ पैर पटककर अपने को छुड़ाने की.....कोशिश करेगी। [3]
17. श्रावकों के चेहरे.....उठे। [4]
20. शिक्षक प्रशिक्षण : दिशा की.....। [3]
21. शशांक का.....टूट गया। [3]
22. एक एक किरण को.....कर सूर्य के साथ पुनः संयोजित कर दिया। [3]
23. ब्रह्म सत्य है,.....मिथ्या। [3]
24. एक नियम है नियति और दूसरा नियम है.....। [2]
25. वे.....दुनिया के अमीर देशों में मुख्य बन गए। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0004

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

प्रथम चयनित विजेता—विनीता भंसाली, अहमदाबाद

1 आ		2 रो		3 अ	नु	4 भ	व	5 ग	म्य		6 मा
7 रा	ज	म	ती			र		ति		8 मा	न
ध				9 क	ल्या	ण		शी			स
10 ना	11 र	द		व			12 का	ल	वा	13 दी	
	थ		14 शी	ल	न		ले			15 प	16 द
17 अ	ने	कां	त			18 का	ल		19 सा		र
	मि		20 ल	ह	रें		क		21 पे	ट	
22 लौ		23 डा				24 नि	र	25 पे	क्ष		26 प
	27 नि	र्वि	चा	28 र				ची		29 स	दा
30 म	का	न		ह		31 पा	32 क	दा	33 न		क्रां
34 न	य		35 वि	ना	श		र्म		36 र	ज	त

अन्य दस चयनित विजेता

1. माणकचंद जैन, लुहारिया (राज.)
2. कौशल्या डोसी, बैंगलौर
3. अरविंद जिरावला, जूनी समदड़ी (राज.)
4. तारामणि चौपड़ा, कलकत्ता
5. शोभा पदमराज सुराणा, औरंगाबाद
6. विमल सिंघी, लाडनूं (राज.)
7. कुसुम देवी सियाल, चिकमंगलूर
8. साक्षी बोरड़, श्रीगंगानगर (राज.)
9. प्रेमलता जैन, उज्जैन (म.प्र.)
10. वंदना राखेचा, बीकानेर (राज.)

With best compliments from :

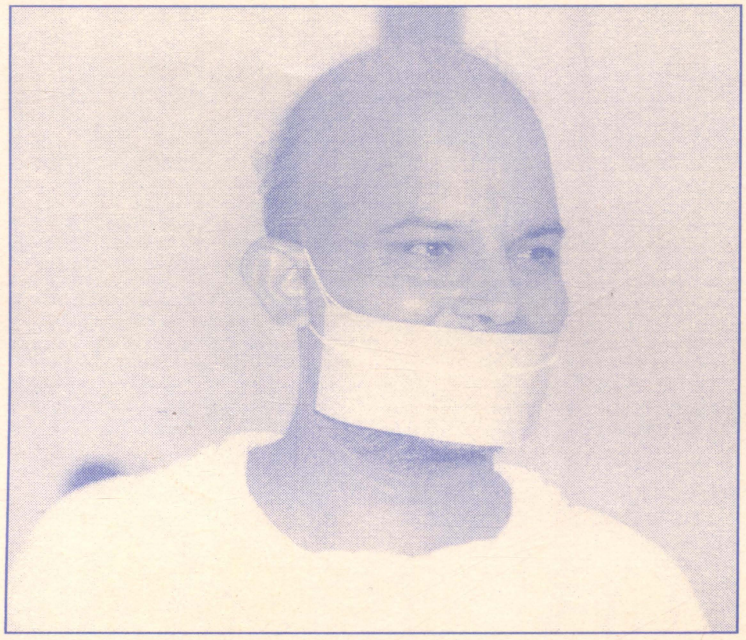

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, अगस्त, 2000 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

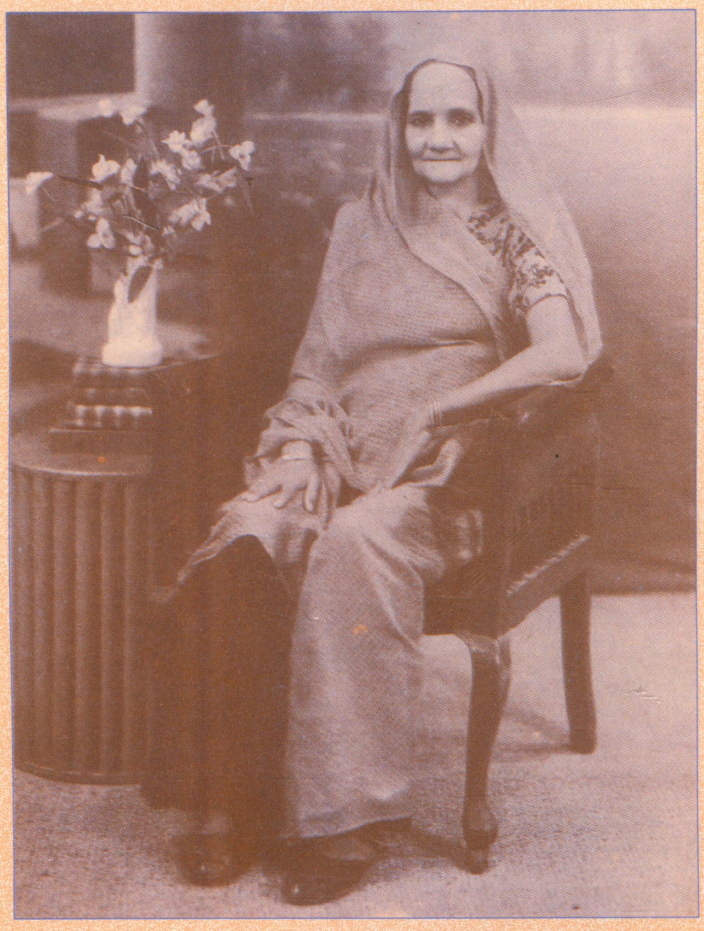

श्रीमती मनोहरी देवी बैद

जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, **Rourkela** 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।